Catalog

1_4.pdf ····· 1
2_4.pdf ····· 2
3_4.pdf ····· 3
4_4.pdf ····· 4
5_4.pdf ····· 5
6_4.pdf ····· 6
7_4.pdf ····· 7
8_4.pdf ····· 8
9_4.pdf ····· 9
10_4.pdf ····· 10
11_4.pdf ····· 11
12_4.pdf ····· 12
13_4.pdf ····· 13
14_4.pdf ····· 14
15_2.pdf ····· 15
16_4.pdf ····· 16
17_4.pdf ····· 17
18_4.pdf ····· 18
19_4.pdf ····· 19
20_3.pdf ····· 20
21_4.pdf ····· 21
22_4.pdf ····· 22
23_4.pdf ····· 23
24_4.pdf ····· 24
25_4.pdf ····· 25
26_4.pdf ····· 26
27_4.pdf ····· 27
28_4.pdf ····· 28
29_3.pdf ····· 29
30_4.pdf ····· 30
31_4.pdf ····· 31
32_4.pdf ····· 32
33_4.pdf ····· 33
34_4.pdf ····· 34
35_4.pdf ····· 35
36_4.pdf ····· 36
37_4.pdf ····· 37
38_4.pdf ····· 38
39_4.pdf ····· 39
40_4.pdf ····· 40
41_4.pdf ····· 41
42_4.pdf ····· 42
43_4.pdf ····· 43
44_4.pdf ····· 44
45_4.pdf ····· 45
46_4.pdf ····· 46
47_4.pdf ····· 47
48_4.pdf ····· 48

49_4.pdf ····· 48
50_4.pdf ····· 50
51_4.pdf ····· 51
52_4.pdf ····· 52
53_3.pdf ····· 53
54_4.pdf ····· 54
55_4.pdf ····· 55
56_4.pdf ····· 56
58_4.pdf ····· 57
59_4.pdf ····· 58
60_4.pdf ····· 59
61_4.pdf ····· 60
62_4.pdf ····· 61
63_4.pdf ····· 62
64_4.pdf ····· 63
65_4.pdf ····· 64
66_3.pdf ····· 65
67_4.pdf ····· 66
68_4.pdf ····· 67
69_4.pdf ····· 68
70_4.pdf ····· 69
71_4.pdf ····· 70
72_4.pdf ····· 71
73_4.pdf ····· 72
74_4.pdf ····· 73
75_4.pdf ····· 74
76_4.pdf ····· 75
77_4.pdf ····· 76
78_4.pdf ····· 77
79_4.pdf ····· 78
80_4.pdf ····· 79
81_4.pdf ····· 80
82_4.pdf ····· 81
83_4.pdf ····· 82
84_4.pdf ····· 83
85_3.pdf ····· 84
86_3.pdf ····· 85
87_4.pdf ····· 86
88_4.pdf ····· 87
89_4.pdf ····· 88
90_4.pdf ····· 89
91_4.pdf ····· 90
92_4.pdf ····· 91
93_3.pdf ····· 92
94_3.pdf ····· 93
95_3.pdf ····· 94
96_3.pdf ····· 95

संघर्ष, सृजन एवं सांस्कृतिक बोध की वैचारिकी
वर्ष–2, अंक–4, जनवरी–मार्च 2010

परमिता

ISSN- 0974-6129

प्रधान सम्पादक :
डॉ. शशांक शुक्ला

सम्पादक :
डॉ. अवधेश दीक्षित

सह सम्पादक:
वागीश राज शुक्ल
बृजेश कुमार यादव
राकेश कुमार तिवारी

उप सम्पादक:
सुनील कुमार पाण्डेय
गौरव सिंह
अखिल कुमार राय

कार्यकारी सम्पादक:
अनूप पति तिवारी
विकास कुमार सिंह
विनय कुमार शुक्ल 'विद्रोही'

परामर्श मण्डल

प्रो. उमेश चन्द्र दूबे
डॉ. अजय शुक्ल
डॉ. गुरु प्रसाद सिंह
प्रो. अशोक सिंह
डॉ. राजीव श्रीवास्तव
डॉ. प्रदीप राव

संरक्षक
प्रो. रामनारायण शुक्ल
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग का.हि.वि.वि.

प्रबंध सम्पादक :
विनय शंकर राय
प्रबोधिनी फाउण्डेशन, वाराणसी

क्षेत्रीय संपर्क एवं प्रसार:
विनय कुमार शुक्ल
सम्पर्क: 9415695663

विशेष संवाददाता : दिलीप कुमार दीक्षित
: राजेश कुमार तिवारी
मुख्य व्यवस्थापक : इन्द्रेश कुमार सिंह
तकनीकी सहयोग : प्रीतिवर्धन दूबे
शब्द संयोजन : तारा शुक्ला
विधि परामर्शदाता : एड. डॉ. प्रमथेश पाण्डेय
व नीरज कुमार सिंह

संपादकीय सम्पर्क
एन 1/61-आर 1, शशिनगर कालोनी
सामनेघाट रोड, नगवाँ लंका,
वाराणसी (उ.प्र.)-221005
दूरभाष : 09838077923
Email-parmita.com@gmail.com

सम्पादक व प्रकाशक डॉ. शशांक शुक्ला द्वारा एन 1/61-आर 1, शशिनगर कालोनी सामनेघाट रोड, नगवाँ, लंका, वाराणसी (उ.प्र.)-221005 से प्रकाशित तथा मेहरोत्रा ऑफसेट, इंग्लिशिया लाइन, वाराणसी से मुद्रित।

• समस्त पद अवैतनिक, रचनाओं का दायित्व रचनाकारों पर। किसी भी विवाद का जूरिसडिक्शन वाराणसी होगा।

भीतरी पन्नों में

सम्पादकीय–

हर किसी का पाँव घुटनों तक सना है /3

विमर्श–

कुंभ का अभिप्राय /राजेन्द्र सिंह /4

भारतीय लोकतंत्र में सूचना का अधिकार /ओम प्रकाश केजरीवाल /7

हिन्द स्वराजः एक हिन्दू आलोचना /शंकर शरण /11

स्मृति–

भारतीयता का प्रकाशदीप /प्रभाष जोशी /16

पुस्तक अंश–

महामना मालवीयजी और उनकी अमर कृति /एस. सोमस्कन्दन् /18

साक्षात्कार–

बाल–साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है : डॉ. बालशौरि रेड्डी /डॉ. शशांक शुक्ला /22

पुस्तक परिक्रमा–

जेम्स प्रिंसेप की काशी–कथा /प्रमोद शंकर पाण्डेय /25

शोध–

कृषि प्रसार और मुद्रित माध्यम : कल, आज और कल /राजेश सिंह /26

क्रान्तिकारी विद्रोही कवि कबीर का भाषा–वैभव /विनय कुमार शुक्ल 'विद्रोही' /31

वैदिक संहिताओं में शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्ययों का ..... /प्रवीण कुमार तिवारी..... /35

मिश्रित माध्यम एवं शैलीगत प्रभाव ''समकालीन भारतीय चित्रकला..... /रेनु यादव /39

लोकगीत : विश्लेषण एवं महत्व /डॉ. हिमांशु कुमार /41

भारतीय राजनीतिक दर्शन के अन्तर्गत सामाजिक न्याय की..... /राखी सिंह, मंजीता पटेल /44

बौद्ध साहित्य में समाज प्रबन्धन /डा. प्रभाकर लाल /48

पिछड़ी जाति के वृद्धजनों का परिवार में समायोजन एवं तनाव का प्रारूप /डॉ. मनोज सिंह /49

महाभारतीय विधान पर भारतीय संविधान /डॉ. रवीन्द्र नाथ यादव /52

'खुली खिड़कियाँ' में स्त्री विमर्श /मीनल सिंह /55

श्रवण विकलांग बच्चों के शैक्षिक पुनर्वसन की आवश्यकताओं..... /राघवेन्द्र नारायण शर्मा..... /57

धर्मसूत्रों में शिल्प उद्योग /श्वेता कुमारी /61

निर्मल वर्मा के कथासाहित्य में जीवन–मृत्यु के तनावपूर्ण एवं आत्मीय सम्बन्ध /आलोक राय /63

गुप्त अभिलेखों में वर्णित वैष्णव धर्म /सुरेन्द्र कुमार, कृष्ण ओम सिंह /66

महाभारत कालीन प्रमुख व्यापारिक उत्पाद व उनके क्रय–विक्रय के संकेत /अनिल कुमार /69

संस्कृत बौद्ध साहित्य में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था /प्रेम चन्द्र यादव /72

सामाजिक–सौहार्द्र के विकास में मध्ययुगीन हिन्दी मुस्लिम कवियों..... /डॉ. अफरोज बेगम /75

कौटिल्य अर्थशास्त्र में दासों की सामाजिक स्थिति /अरविन्द कुमार /78

Banking System During Gupta Period /Dr. Seema Mishra /80

Challenges for Bank Mergers in India /Brajesh Kumar Tiwari /83

Tesco Supermarkets V Nattrass: An..... /Anupam Mishra /87

Reading Difficulties in English in Relation to School and Parental..... /Shikha Tiwari /91

विदग्ध गोष्ठी

इतिहास के पुनरावलोकन की आवश्यकता : प्रो. केडिया /विवेकानन्द तिवारी /94

चीनी घुसपैठ : भारतीय सम्प्रभुता के लिए खतरा /अमरजीत सिंह /95

'राष्ट्रोत्थान और पुरबिया एकता' विषयक गोष्ठी का आयोजन /अभिनव पाण्डेय /96

सम्पादकीय

हर किसी का पाँव घुटनों तक सना है

देश की शिक्षा व्यवस्था की गाड़ी पटरी से उतरती जा रही है। एक तरफ बेतहाशा शुल्क वृद्धि, सुविधाओं के नाम पर छात्रों का भयंकर आर्थिक शोषण, शिक्षा परिसरों से लोकतंत्र को समूल नष्ट करने की साजिश, शैक्षिक प्रशासकों का अंतहीन तानाशाही–साम्राज्य, देश के प्रतिष्ठित संस्थानों की परीक्षाओं में धाँधली, नियुक्तियों में भाई–भतीजावाद, धन एवं 'जुगाड़' का बोलबाला, अंत में शिक्षा के क्षेत्र में यू.जी.सी. जैसी अखिल भारतीय नियामक संस्था की नाक के नीचे देश में शिक्षण संस्थान नहीं बल्कि दर्जनों फर्जी विश्वविद्यालयों का संचालन; यही शिक्षा का वास्तविक राष्ट्रीय प्रतिबिम्ब है।

नदियों के प्रदूषण का विषय हो चाहे प्राकृतिक असंतुलन का, समाज में बढ़ रहा अपराध हो, चाहे अराजकता का वातवरण, दहेज, घूसखोरी या राजनीति का अपराधीकरण। आज सर्वाधिक शिक्षित समुदाय इन सभी बातों पर अपनी जबान से मुखर एवं कर्म से मौन है। उसे कुछ भी लेना–देना नहीं है। परिस्थितियों का विद्रूप चित्रांकन एवं इसका कारण व्यवस्था अथवा किसी व्यक्ति या समुदाय–विशेष को बता देना ही इनके कर्म की इतिश्री है। अत्याचार, भ्रष्टाचार, अव्यवस्था एवं अराजकता के विरुद्ध हस्तक्षेप की संस्कृति ही समाप्त होती जा रही है। प्रत्येक को यही लगता है कि 'मुझसे क्या मतलब'। यह तो अमुक का कर्तव्य/जम्मेदारी है। आम नागरिकों के मौलिक अधिकारों में कटौती का षडयंत्र अभिजात्यजनों का पसंदीदा खेल बन चुका है। सूचना के अधिकार जैसे सशक्त कानून को भी मानवाधिकार कानून की तरह ही निश्तेज और धारहीन बनाने का षडयंत्र शुरु है।

सबसे अधिक दुर्भाग्य की बात यही है कि जब हमें इन पर हस्तक्षेप करना चाहिए तब हम चुप बैठे हैं। केवल आदर्शों का पाठ पढ़ाना और महापुरुषों के चित्र पर माला–पुष्प चढ़ा देने से देश–समाज में कुछ भी परिवर्तन होता तो और बात थी। दुर्भाग्य है कि हम महापुरुषों का कोई छोटा सा भी आचरण अपने व्यवहार में नहीं लाना चाहते हैं; ताकि हमें अपने निजी जीवन के कोई जोखिम न उठाना पड़े। ऐसे में हमारे खुद के मुँह से परिवर्तन व क्रांति की बातें बेमानी नहीं तो और क्या हैं?

भ्रष्टाचार की भयानक विषबेल ने लोकतंत्र के चारों स्तम्भों को अपने आगोश में ले लिया है। नेता, अफसर, मंत्री, संत्री, न्यासी, सन्यासी और चपरासी सब के सब घूस के 'कूपन' से 'रिचार्ज' हो रहे हैं। हम अपने छोटे–छोटे कामों को शीघ्रता एवं सहजता से घर बैठे करा लेने को इतने आतुर हैं कि कब नैतिकता ओर मर्यादा–रेखा लाँघकर इन्हें खुद बेइमानी का अवसर देते हैं, हमें खुद पता नहीं। फिर मौका मिलते ही देश में बढ़ रहे भ्रष्टाचार को जमकर कोसते हैं। इस दोमुही एवं अकर्मण्य–विद्या का विकास भ्रष्टाचार के इस गुरुकुल में अराजकता के नये कीर्तिमान बना रहा है।

देश में जब ऐसी अराजक एवं विद्रूप परिस्थितियों के साथ जनसरोकारों की चर्चा हो तो लोकतंत्र के सबसे मजबूत कहे जाने वाले चौथे स्तंभ 'मीडिया' से जनपक्षधरता की अपेक्षाएं सहज ही बढ़ जाती हैं। लेकिन जनपक्षधरता के इस छाते में भी 'व्यावसायिक हितों' के बड़े छिद्र होते जा रहे हैं। कभी 'तोप' का सामना करने वाले 'अखबार' ने राजसत्ता और अर्थसत्ता के सामने घुटने टेक दिये हैं। अब लाभ कमाना इनकी प्राथमिकता में है। जनपक्षधरता तभी तक संभव है जब तक उनके व्यावसायिक हितों पर आँच न आये। ये बातें करते हुए बरबस हीं स्व. प्रभाष जोशी जी की याद बार–बार आ रही है, जिन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में रहते हुए पत्रकारिता में आयी खोट के खिलाफ एक लंबे मुहिम की शुरुआत की। 6 नवम्बर 2009 को उनका जाना, पत्रकारिता के एक आंदोलन का अवसान है; साथ में प्रेरणा भी कि 'सरोकारों' की चिंता करनी है, 'सरकारों' की नहीं। पोपला–प्रलाप छोड़कर हमें विरोध की शुरुआत भी वहीं से करनी होगी, हम जहाँ–जहाँ खड़े हैं। पत्रकारिता के इस महानायक को भावभीनी श्रद्धांजलि–समर्पण के साथ.....

विमर्श-१

कुंभ का अभिप्राय

राजेन्द्र सिंह

"अतः पुराण की मानें तो भी और विज्ञान की मानें तो भी; जब-जब देवताओं अर्थात् जीवनवर्धक रचनात्मक शक्तियों द्वारा आसुरी शक्तियों अर्थात् जीवनसंहारक यानी नकारात्मक तत्वों के दुष्प्रभाव को रोकने की कोशिश की गयी, तब-तब का समय व कोशिश कुंभ नाम से विख्यात हुआ।"

भारत में कुंभ का एक गौरवशाली इतिहास रहा है। छः बरस में अर्धकुंभ, 12 में कुंभ और 144 बरस में महाकुंभ! जाति, धर्म अमीरी, गरीबी यहां तक कि राष्ट्र की सरहदें भी इस आयोजन में कोई मायने नहीं रखतीं। साधु–संत, राज–समाज, देशी–विदेशी सभी इस आयोजन में आकर खो जाते हैं। कुंभ में आकर ऐसा लगता है कि जैसे हम कभी भिन्न थे ही नहीं। दुनियां में पानी का इतना बड़ा मेला मैंने कहीं नहीं देखा। यह सिलसिला हजारों बरस से बदस्तूर जारी है। ये सभी मुझे आश्चर्यचकित भी करता है और मन में सवाल भी उठाता है।

मन में जिज्ञासा उठती है कि क्या 'कुंभ' नदी में एक डुबकी स्नान कर लेना मात्र आस्था का आयोजन है, अथवा इसकी पृष्ठभूमि में कुछ और प्रयोजन थे? आखिर नदी किनारे ही हमारे ज्यादातर मठ, मंदिर, तीर्थ और धर्माचार्यों के ठिकाने क्यों बने? कुंभ, अर्धकुंभ और महाकुंभ की नामावली व समयबद्धता का आधार क्या रहा होगा? यदि कुंभ का प्रयोजन स्नान मात्र ही हो, तो फिर कल्पवासी यहां महीनों कल्पवास क्यों करते हैं? स्नान का इतना बड़ा आयोजन क्यूँ? ऐसे जाने कितने ही सवाल मन में उठते हैं।

आस्था से पूछता हूँ, तो जवाब आता है कि 'घट' कुंभ का प्रतीक है। 'घट' यानी घड़ा कलश। आपने कुंभ राशि के प्रतीक चिह्न के रूप में कलश को देखा होगा। आस्था कहती हैं कि समुद्र मंथन के दौरान निकले अमृत कलश को भूमि पर रखा, वे स्थान कुंभ आयोजन के स्थान हो गये।

गर्ग संहिता आदि पुराणों ने यह उल्लेख किया तो अथर्ववेद कहता है कि समुद्र मंथन के समय अमृत से पूर्ण कुंभ जहां–जहां स्थापित किया गया, वे चार स्थान कुंभ के तीर्थ हो गये। अन्य पुराण बारह वर्षों में सूर्य, चन्द्र और वृहस्पति के योगायोग के चार प्रभाव बिन्दुओं का कुंभ का स्थान मानते हैं। नासिक (महाराष्ट्र) में गोदावरी नदी का किनारा, उज्जैन (मध्यप्रदेश) में शिप्रा तट पर, इलाहाबाद और हरिद्वार में गंगा का तट; ये आज भी कुंभ का स्थान बने हुए हैं। आस्था कहती है कि दैवीय शक्तियाँ कुंभ को लेकर बारह दिन तक चक्कर लगाती रहीं। उनका एक दिव्य दिवस मृत्यु लोक के एक वर्ष के बराबर होता है। अतः बारह दिव्य दिवस मानव गणना के बारह वर्ष हो गये और इन बारह वर्षों के अन्तराल को दो कुंभ के बीच का अंतराल मान लिया गया।

विश्व को ब्रह्माण्ड रूप भरा हुआ कुंभ ही कहा गया। वैज्ञानिक इसी से दिन, रात, महीना और बारह महीनों का एक वर्ष की गणना करते हैं, पृथ्वी एक दिन में एक बार अपनी धुरी पर और बारह महीनों में एक बार सूर्य की परिक्रमा पूरा करती है। यह हम सभी जानते ही हैं। भारत के ऋषि वैज्ञानिक तर्क देते हैं कि ब्रह्माण्ड में ऑक्सीजन प्राण और कार्बन–डाइ–आक्साइड प्रधान दोनों प्रकार के पिंड हैं। ऑक्सीजन प्रधान पिंड 'जीवनवर्धक' कहे गये और कार्बन डाई आक्साइड प्रधान पिंड 'जीवनसंहारक' कहे गये। बृहस्पति ग्रह की जीवनवर्धक पिंडों और तत्वों का सर्वप्रधान केन्द्र है। शनि ग्रह को जीवनसंहारक तत्वों का खजाना कहा गया। सूर्य का द्वादशांश छोड़ दें तो शेष भाग जीवनवर्धक है। सूर्य पर दिखता काला धब्बा ही वह हिस्सा है, जिसे जीवन संहारक कहा जाता है। अमावस्या के निकट काल में जब चन्द्रमा क्षीण हो जाता है, तब संहारक प्रभाव डालता है। शेष दिनों में खासकर अपने पूर्णिमा के दिनों में चंद्रमा जीवनवर्धक होता हैं। शुक्र सौम्य होने के बावजूद संहारक है। अतैव इसे आसुरी शक्ति का पुरोधा कहा जाता है। मंगल रक्त और बुद्धि दोनों पर प्रभाव डालता है। बुध उभय पिंड है, जिस ग्रह का प्रभाव अधिक होता है, बुध उसके अनुकूल ही प्रभाव डालता है। छाया–ग्रह राहु, केतु तो सदैव ही जीवन संहारक यानी कार्बनडाईआक्साइड से भरे पिंड हैं। इनसे जीवन की अपेक्षा करना बेकार है। अलग–अलग ग्रह अलग–अलग राशियों के स्वामी हैं। अतः जीवनवर्धक ग्रहों का प्रधान बृहस्पति जब–जब संहारक ग्रह की राशि में प्रवेश कर जीवनसंहारक तत्वों में रुकावट पैदा करता है; ऐसे संयोग

शुभ तिथियाँ मानी गईं।

ऐसे चक्र में एक समय ऐसा आता है, ऑक्सीजन प्रधान पिंड 'बृहस्पति' जीवन संहारक प्रधान ग्रह शनि की खास राशि कुंभ में प्रवेश करता है तथा सूर्य और चन्द्रमा मंगल की राशि मेष में आ जाते हैं। तब इनके प्रभाव का केन्द्र–बिन्दु हरिद्वार बनता है। यह समय हरिद्वार में कुंभ पर्व का समय माना जाता है।

> "नदियों पर प्रदूषण का बड़ा खतरा तो लम्बे अरसे से था ही, अब अतिक्रमण और शोषण की बुरी नीयत भी सामने आ गई है। ये ही आज की नकारात्मक शक्तियाँ हैं। निजी प्रमुख हो गया है, सामुदायिक व सर्वकल्याणकारी कुछ नहीं।"

इसी प्रकार जब बृहस्पति ग्रह दैत्यगुरु शुक्र की राशि वृष में प्रवेश करता है तथा सूर्य और चन्द्रमा का शनि की मकर राशि में प्रवेश होता है ऐसे समय इलाहाबाद प्रभाव बिन्दु बनता है। तब प्रयाग में कुंभ होता है। याद रहे कि यही वह तिथि होती है, जब सूर्य दक्षिणायन से उत्तरायण होता है। सूर्य का उत्तरायण होना कर्मकाण्ड की दृष्टि से शुभ माना जाता है।

जब भादों की भयानक धूप होती है, तब सूर्य के मारक प्रभाव से बचाने के लिए बृहस्पति सूर्य की राशि सिंह में प्रवेश करता है। इस समय जब तक सूर्य चन्द्र सहित सिंह राशि पर बना रहता है, तब तक नासिक इसका केन्द्र बिन्दु होता है और वहां गोदावरी तीरे कुंभ पर्व की तरह मनाया जाता है। जब बृहस्पति सिंहस्थ हो, सूर्य मंगल की मेष राशि में हो और चन्द्रमा शुक्र की राशि तुला में पहुंच जाये, तो महाकाल का पवित्र क्षेत्र– उज्जैन प्रभाव बिन्दु बनता है और शिप्रा किनारे कुंभ का मेला लगता है।

मेरा मन आस्था और विज्ञान के इस उत्तर से संतुष्ट नहीं हुआ। मैंने धर्माचार्यों से चर्चा की, कल्पवासियों के बीच बैठा, अनुभवों को टटोला, तब एक बात समझ में आयी कि भारत में लम्बे समय से समाज को अनुशासित करने के लिए बनाई गयी वैज्ञानिक रीति–नीति को धर्म, पाप, पुण्य और मर्यादा जैसी आस्थाओं से जोड़ा जाता रहा है। समाज को विज्ञान की जटिलताओं में उलझाने की बजाय, आस्था की सहज, सरल और छोटी पगडंडी का मार्ग अपनाया गया।

अतः पुराण की मानें तो भी और विज्ञान की मानें तो भी; जब–जब देवताओं अर्थात् जीवनवर्धक रचनात्मक शक्तियों द्वारा आसुरी शक्तियों अर्थात् जीवनसंहारक यानी नकारात्मक तत्वों के दुष्प्रभाव को रोकने की कोशिश की गई, तब–तब का समय व कोशिश कुंभ नाम से विख्यात हुआ। सम्भव है कि ऐसे शुभ कर्मों को निरंतरता देने के लिए समाज के नियन्ताओं ने इसे नियमित कर्म का रूप दे दिया और जो–जो स्थान इन कोशिशों का केन्द्र–बिन्दु बने, वे कुंभ पर्व का स्थान हो गये। अथर्ववेद में विश्व को ही 'घट' रूप के रूप में कल्पित किया गया है। नकारात्मक शक्तियां विश्व की आसुरी कृत्यों का प्रतीक हो गईं और दैव शक्तियां बुरे कामों, बुरे प्रभावों को रोकने वाली ताकत के रूप में कल्पित की गईं। समाज मे हमेशा से ये दो तरह की शक्तियाँ रही ही हैं। आस्था और विज्ञान दोनों का आकलन करे, तो कौन इन्कार करेगा कि अच्छी ताकतों द्वारा बुरी ताकतों का रोकने की कोशिश और इसे लिए एकजुट होने की परिपाटी ही कुंभ है। मैं कुंभ को इसी रूप में देखता हूँ।

गंगा, गोदावरी, शिप्रा... ये सदियों से समृद्ध नदियां रही हैं। इस समृद्धि के आने पर इनके तट पर खेती करने वाले किसानों के मन में लालच आया, तो खेती खेत से उतरकर नदियों के पाट पर चली आई; जैसा कि आज भी सब जगह दिखाई देता है। सोचना चाहिए कि नदी और भूमि दोनों को मां का दर्जा यूं ही नहीं दिया गया। दोनों ही पालक– पोषक हैं। अतः दोनों ही मां हैं। कभी इसी समाज ने इनके साथ व्यवहार के सिद्धांत तय किये थे। किन्हीं खास महीनों में भूमि को गर्भवती माना जाता था। इन महीनों में जुताई और खुदाई प्रतिबन्धित रहती है। नदी मां है, इसलिए इसमें मलमूत्र–गंदगी का त्याग वर्जित है। ये पूजनीया हैं। नदी को पूजनीया मानने वाला समाज भला मां के वक्षस्थल पर हल चलाने की इजाजत कैसे दे सकता था? यही हुआ।

नदी पाट पर खेती को लेकर विवाद बढ़ा। समाज ने व ऋषियों ने कहा कि नदी अकेले न समाज की है, न ऋषियों की, यह तो सभी की साझा है। राज–समाज, ऋषि और प्रकृति के जीव–वनस्पति सभी का इस पर साझा अधिकार है। अतः इसकी समृद्धि और पवित्रता कायम रखने के लिए सभी को बैठकर निर्णय करना होगा। बस! एक दस्तूर बन गया और राज–समाज और ऋषि–संत..... सभी निश्चित अवधि, अंतराल पर नदी किनारे जुटने लगे। आज भी समाज किसी न किसी नाम से साल में कई बार अपनी–अपनी नदियों के किनारे जुटता ही है। कहीं इसका कारण छठ पूजा है, तो कहीं वसंतपंचमी, पोंगल और कहीं माघ तथा रावणी मेला। ऐसा माना जाता है कि कोई भी नदी करीब 150 बरस में अपनी धारा की दिशा और दशा में बदलाव का रुख करती है। सम्भवतः इसीलिए 144 बरस में महाकुंभ का निर्णायक आयोजन तय किया गया। महाकुंभ के निर्णयों की अनुपालन और निगरानी के लिए हर छह बरस पर अर्धकुंभ और बारह बरस पर कुंभ के आयोजन की परम्परा बनी।

यह सच है कि भारत में जब–जहां संकट दिखा.... कोई पुरुष, घटना या संदर्भ प्रेरक प्रतीक बनकर खड़ा हो गया, जीवनवर्द्धक शक्ति बन गया। इतिहास के पन्नों पर निगाह डालें तो राजा, प्रजा और ऋषि, तीनो कहीं न कहीं अपने–अपने वर्ग के समक्ष प्रेरणा का प्रतीक बनकर खड़े दिखाई देते हैं। जो कुंभ का अभिप्राय कभी न भूले, जिन्होंने कुंभ के विमर्श को कभी नहीं नकारा, कुंभ के वाहक बने; जो राज–समाज और ऋषि अपनी भूमिका को कभी न भूले,

समाज ने उन्हें हमेशा याद रखा। बरस–दो बरस नहीं, हजारों बरस बाद भी।

जब उत्तर के मैदान में पानी का संकट था, तब राजा भागीरथ प्रतीक बने। राजा सगर के पुत्रों के रूप में 60 हजार की आबादी का कल्याण राजा भागीरथ के यश के कारण बना। मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र और कर्नाटक के वर्तमान नामकरण वाले इलाकों में जब कभी पानी संकट हुआ तो गौतम नामक एक ब्राह्मण प्रतीक बन सामने आया और गोदावरी जैसी महाधारा बह निकली। ब्रह्मपुराण में इस प्रसंग का जिक्र करते हुए गोदावरी को गंगा का ही दूसरा स्वरूप कहा गया है। विन्ध्य गिरि पर्वतमाला के उत्तर में बहने वाली गंगा, भागीरथी कहलाई और दक्षिण की ओर बहने वाली गंगा, गोदावरी नाम से विख्यात हुई। इसे गौतमी गंगा भी कहा जाता हैं।

स्कन्दपुराण में वर्तमान आन्ध्रप्रदेश कभी नदी हीन क्षेत्र के रूप उल्लिखित है। दक्षिण के इस संकट में एक ऋषि का पौरुष प्रतीक बना। ऋषि अगस्त्य के प्रयास से ही आकाशगंगा दक्षिण की धरा पर अवतरित होकर सुवर्णमुखी नदी के नाम से एक जीवनदायी धारा बन गई। भगीरथ– एक राजा, गौतम–एक प्रजा तथा अगस्त्य– एक ऋषि तीनों ही नदी के अविरल प्रवाह के उत्तरदायी, तीनों ही रचना के प्रतीक! सचमुच, कभी भारत में नदियों की समृद्धि में सभी साझेदार थे। हर भारतवसासी के लिए उसकी अपनी नदी गंगा जैसी ही थी। वह उसे पूजनीया मानता था। यूँ भी जहाँ गंगा नहीं है, वहां कावड़ियों के कन्धे पर सवार होकर पहुंचती ही है।

मुझे भारत की 144 नदियों को देखने का मौका मिला है। मुझे यह कहते लज्जा आती है कि आज वर्ष 2009 में भारत की एक भी प्रमुख नदी ऐसी नहीं है, जिसका जल स्वच्छता के मानदंडों पर खरा और सीधे पीने योग्य हो। नदियों की एसी दुर्दशा वाले भारत में ऐसी सामाजिक आस्था के कोई मायने नहीं है कि जो नदियों का जीवन न बचा सके। नदियों पर प्रदूषण का बड़ा खतरा तो लम्बे अरसे से था ही, अब अतिक्रमण और शोषण की बुरी नीयत भी सामने आ गई है। ये ही आज की नकारात्मक शक्तियाँ हैं। निजी प्रमुख हो गया है, सामुदायिक व सर्वकल्याणकारी कुछ नहीं। ऐसी स्थिति में किसी एक को दोष देने या हाथ पर हाथ धरकर चुप बैठने से काम चलने वाला नहीं। अब तो आफत शिकंजा कस चुका है। यदि अब भी हम नहीं चेते, तो नदियां तो जायेंगी ही, हम भी जायेंगे और भारत की समृद्धि व गौरव भी।

जरूरत है कि हम अपनी स्थानीय नदी को 'गंगा' ही मानकर संरक्षण व उन्नयन में लगें। हमें कुंभ के मूल अभिप्राय व लक्ष्य को पुनः प्राप्त करना होगा। हमें अपने राज–समाज और संत सभी को याद दिलाना होगा कि अब जब भी, जहां भी नदी किनारे समाज जुटे, वहां अपनी आस्था के दीप तो जलायें, लेकिन नदी के प्रवाह की अविरलता, स्वच्छता और सुंदर स्वरूप को सुनिश्चित करने का संकल्प लेना न भूलें। अब छठ पूजा, माघ–श्रावणी मेला, कुंभ और कावड़ियों की कलश यात्रायें, नदियों का रक्षण और समृद्धि हेतु सुनिश्चित कदम उठाने का माध्यम बने। भारत में जल के विकेन्द्रीकृत जल प्रबन्धन का जो समयसिद्ध ज्ञान है, वह इसी रास्ते समृद्ध होकर पुनः समाधान सुझा देता है। वैश्विक समस्यायों के स्थानीय समाधान प्रस्तुत करने का यही एक रास्ता है। जो जहां है, वहां की समझ, शक्ति और संगठन को नदी किनारे के इन कुंभों से जोड़कर एक ताकत खड़ी करें; ताकि पूर्व की तरह कुंभ के निर्णय सर्वमान्य बनें। फिर उन निर्णयों की अनुपालन व निगरानी की सतत् व्यवस्था बनानी होगी। राजा–समाज और संत सभी की जिम्मेदारी बनें। सभी अपनी–अपनी भूमिका तलाश कर उसके निर्वाह के प्रति जवाबदेह हों।

जब यह सवाल उठता है, तब अलवर की पुनर्जीवित नदी अरवरी और सत्तर गांवों का संगठन–अरवरी संसद मेरे सामने आ खड़े होते हैं। अरवरी नदी भी कभी सूख गई थी, आज सदानीरा है। जब अरवरी समृद्ध और सदानीरा हुई, तो यहां भी लालच आया। राज में भी और समाज में भी। राज ने मछली का टेंडर खोल दिया और समाज अधिक पानी की फसल पाने को लालायित हो उठा। इसी समाज में कुछ समझदार लोग थे, जिन्होंने भविष्य देख लिया था। वे चेत गये। अरवरी के सत्तर गांव एक साथ बैठे। नदी सदानीरा और समृद्ध बनी रहे, इसके लिए उपयोग का अनुशासन बनाया। नियम बने और उनकी पालना भी सुनिश्चित हुई। राज के लालच पर भी रोक लगी। ठेका रद्द हो गया। आज भी अरवरी के सत्तर गांव वर्ष में दो बार अपनी नदी के किनारे एक साथ बैठते हैं। नदी और इसके आस–पास की हरियाली, जीव व प्रकृति की समीक्षा करते हैं और फिर पुनः अपने काम में जुट जाते हैं। यह भाव लिए कि नदी, जंगल, पहाड़, पानी समृद्ध रहेंगे, तो उनकी समृद्धि में भी कोई कमी नहीं आयेगी। अरवरी आज उनका तीर्थ है और अरवरी संसद की हर बैठक एक कुंभ! अरवरी के 70 गांव मुझे ताकत देते हैं, लेकिन भारत में हर जगह का समाज ऐसा ही हो यह उम्मीद करना बेमानी है। हां! इस बात पर मुझे सदैव यकीन रहा है कि कोशिश और नीयत अच्छी हो, तो नतीजा आता ही है। क्योंकि हर जगह राज–समाज, संत सभी के बीच कुछ अच्छे लोग मिल ही जाते हैं। प्रकृति भी आपकी मदद करती है। मन ने कहा कि इन अच्छी ताकतों को एकजुट कर लिया जाये, तो रास्ता निकलेगा ही।

"संकट में रोशनी भी वहीं से मिलती है.... जहां कभी अंधेरा गहरा हो।" अतः अंधेरा कितना ही गहरा हो, अंधेरा होने पर न रोयें, न चिल्लायें..... बस! एक छोटा सा दीप जलायें। तब ऐसा हर इलाका तीर्थ बन जायेगा। वहां आप अमृत धारा और कुंभ दोनों की स्थापना व आराधना कर सकेंगे।

●●●●

*लेखक 'मैग्सेसे पुरस्कार' से सम्मानित सामाजिक कार्यकर्ता हैं।

विमर्श-२

भारतीय लोकतंत्र में सूचना का अधिकार

ओम प्रकाश केजरीवाल*

"इस कानून का दूसरा और अधिक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि इसके मार्फत भ्रष्टाचार और अनियमितता के बड़े-बड़े मामले प्रकाश में आ सकते हैं जिनके फलस्वरूप सरकारी विभागों तथा प्रशासन में व्यापक सुधार हो सकते हैं। दुर्भाग्यवश इस ओर लोगों का ध्यान कम ही गया है। इस ओर मीडिया का भी ध्यान अपेक्षाकृत कम गया है।"

कहते हैं–1764 में एडवर्ड टेरी नाम का एक अंग्रेज पर्यटक भारत आया। घूमता–घामता वह आगरा भी पहुंचा। वहां उसने ताजमहल देखा और उस दिन अपनी डायरी में लिखा : 'आज से हम संसार के लोगों को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं–एक, जिन्होंने ताजमहल देखा है, और दूसरा, जिन्होंने इसे नहीं देखा।' इसी प्रकार से आज हम शायद भारत के लोगों को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं : एक वे जो अक्तूबर 2005 के पूर्व की मानसिकता के साथ जी रहे हैं, और दूसरे वे, जिन्होंने स्वयं को अक्तूबर 2005 के बाद की मानसिकता में ढाल लिया है।

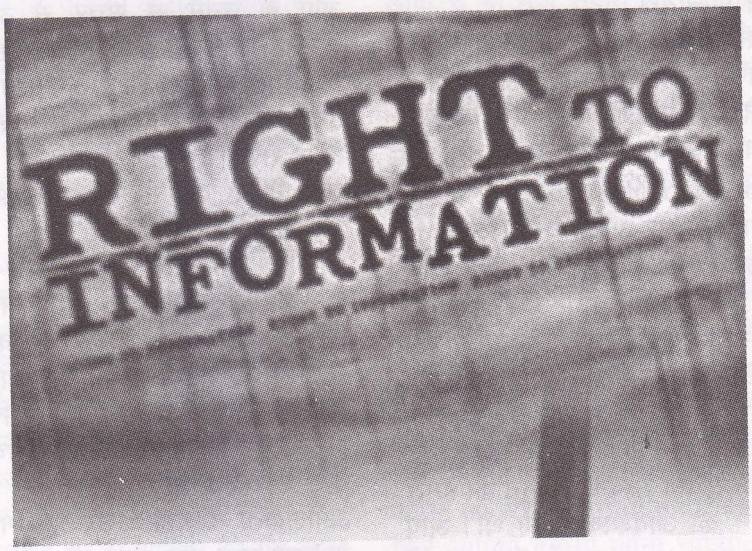

हो सकता है कि उपर्युक्त कथन में हमें अतिशयोक्ति लगे, पर यह सही है कि अक्तूबर 2005 में सूचना के अधिकार अधिनियम का लागू होना देश के इतिहास में एक मील के पत्थर के समान था। वस्तुतः इस कानून के असली महत्व को हम ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अधिक समझ सकते हैं।

इस बात में तो संभवतः दो राय नहीं होगी कि मानव समाज हमेशा से ही दो वर्गों में विभाजित रहा है : शासक वर्ग और दूसरा शासित वर्ग। और जो शासित वर्ग रहा है, वही अक्सर शोषित वर्ग भी रहा है। अगर हम यूरोप के कुछ छोटे राष्ट्रों, जैसे नार्वे तथा स्वीडन, को छोड़ दें तो पाएंगे कि इतिहास में ऐसे कम अवसर आए हैं जब शासित अथवा शोषित वर्ग अपने शासकों से आधिकारिक रूप से प्रशासन व्यवस्था के बारे में पूछने का अधिकार रखता हो। जैसे : सरकार अथवा शासकों की क्या योजना–परियोजनाएं हैं, किस पर कितना खर्च होने का अनुमान है, या फिर हुआ है, उससे कितने लोगों को लाभ पहुंचा और यदि नहीं पहुंचा तो उसके लिए प्रशासन के कौन–कौन व्यक्ति जिम्मेदार हैं, आदि आदि। मेरी समझ में पूरे मानव इतिहास में हमें बहुत कम उदाहरण मिलेंगे जब प्रशासन में जनता की भी आवाज रही हो, जैसे छठी शताब्दी का सुकरात, प्लेटो और अरस्तू का यूनान, उसके बाद रोम का गणतंत्र तथा भारत में बुद्धकालीन लिच्छिवियों का गणतंत्र। और सच में देखा जाए तो कौन सा शासक अपने अधीनस्थ लोगों को यह अधिकार देना चाहेगा जिससे वे उसी के कार्यकलापों के बारे में पूछताछ कर सकें जिससे वे उसे कटघरे में भी खड़ा कर सकते हों।

पर कालान्तर में इतिहास ने एक नया अध्याय खोला–नई व्यवस्थाएं स्थापित हुई और लोकतंत्र की धारा के साथ–साथ प्रशासन से सूचना पाने का अधिकार भी मजबूत हुआ। कहा जाता है कि नार्वे तथा स्वीडन के नागरिकों का यह अधिकार सौ वर्षों से भी अधिक पुराना है, पर यदि हम उत्तरी यूरोप के छोटे–छोटे राज्यों की बात छोड़ दें तो अमेरिका वह पहला प्रमुख राष्ट्र था जिसने अपने नागरिकों को सूचना पाने की स्वतंत्रता प्रदान की।

अवश्य ही यह आसान नहीं था। इससे संबंधित रोचक घटना है कि 1966 में जब अमरीकी राष्ट्रपति लिंडन जॉनसन ने 'सूचना पाने की स्वतंत्रता कानून, पर अपने दस्तखत किए तो स्वाभाविक रूप से इसका गुणगान किया कि किस प्रकार इससे अमरीकी लोकतंत्र और अधिक मजबूत हुआ। पर जो बात लोगों को पता नहीं है और जिसे बाद में राष्ट्रपति के प्रेस सलाहकार बिल मौयर्स ने बताया, वह यह कि राष्ट्रपति जॉनसन को करीब–करीब खींचकर टेबल तक लाया गया और उन्होंने बहुत मन मारकर इस कानून पर अपने दस्तखत किए। वस्तुतः सूचना प्राप्त करने

की आम नागरिकों की स्वतंत्रता की बात उनके गले के नीचे ही नहीं उतर रही थी। इसके बाद भी कम से कम दो और अमेरिकी राष्ट्रपतियों–रिचर्ड निक्सन तथा रोनाल्ड रीगन–ने सूचना से संबंधित कानून को समाप्त करने की चेष्टा की। लेकिन इतिहास में विचारों की लहर को रोकना कठिन हो जाता है, और इस तरह धीरे–धीरे एक के बाद एक कर दुनिया के विभिन्न राष्ट्र 'सूचना पाने की स्वतंत्रता' के कानून को अपनाते गए। भारत इस कानून को पास करनेवाला पैंसठवां या छियासठवां राष्ट्र था और उसके बाद भी और कई राष्ट्रों ने इसे अपनाया।

> "इतना कुछ होने के बावजूद क्या हम कह सकते हैं कि सूचना अधिनियम से देश की आम जनता की आशाएं पूरी हुई हैं या उसका इतना असर हुआ है जितनी की इससे आशाएं थीं?और अगर ऐसा नहीं है तो इसके कार्यान्वयन में किस प्रकार की बाधाएं हैं?"

पर सूचना से संबंधित भारत का कानून अधिकतर देशों के कानून से भिन्न है–और कहीं अधिक शक्तिशाली भी। इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि जब अधिकतर देशों में सूचना सम्बन्धी कानून को 'सूचना की स्वतंत्रता' (Freedom of Information) की संज्ञा दी गई, भारत में इसे 'सूचना का अधिकार अधिनियम' (Right to Information Act) पुकारा गया है। इसके अलावा जिस प्रकार की समय–सीमाएं हमारे अधिनियम में दी गई हैं, वैसी अन्य देशों में नहीं। इन समय–सीमाओं की चर्चा हम बाद में करेंगे। भारत में इस अधिनियम की एक और विशेषता है : सही सूचना न देने अथवा समय पर न देने पर दंड का प्राविधान–जो अधिकतर अन्य देशों के कानून में नहीं है।

मेरा मानना है कि सूचना सम्बन्धी कानून को हमारे देश में शक्तिशाली बनाने की आवश्यकता भी थी। आप स्वयं सोचकर देखें : यहां शुद्ध खाद्य पदार्थों और दवाइयों का मिलना समस्या है। पीने के पानी की समस्या है। अस्पतालों और इलाज की समस्या है। बिजली की समस्या है, टेलीफोन की समस्या है, आवागमन, परिवहन की समस्या है... आदि आदि। कहने का अर्थ है कि जो चीजें हमें स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो जानी चाहिए, उनके लिए हमें करीब–करीब जीवन भर संघर्ष करना पड़ता है और और अधिकतर मामलों में हम पाते हैं कि घूस के बिना गाड़ी आगे बढ़ती ही नहीं। अतः हमारे जीवन का अधिकतर भाग, जो लाभदायक अथवा रचनात्मक कार्यों में लगाया जा सकता था, वह निरर्थक के संघर्ष में बीत जाता है। ऐसा विकसित देशों के साथ नहीं है। वहां का आम नागरिक अपना रोज का जीवन बिना किसी संघर्ष या अनावश्यक तनाव के व्यतीत कर सकता है। सरकारी महकमों में उचित काम बिना सिफारिश या घूस के हो जाता है। इसीलिए शायद यह आवश्यक माना गया कि हमारा सूचना संबंधी कानून ऐसा हो, जो आम आदमी के प्रति सरकार में व्याप्त संवेदनहीनता तथा भ्रष्टाचार पर सीधी चोट कर सके। और इसमें हम कुछ हद तक सफल भी हुए हैं। सूचना के कानून का सहारा लेने से कई लोगों की आम जरूरतें, जैसे राशन कार्ड, टेलीफोन लाइन, पासपोर्ट आदि बिना घूस दिए पूरी हुई हैं। कुछ समय पहले एक टी0वी0 चैनल ने 'घूस को घूंसा' कह कर एक अभियान चलाया था। इसमें हजारों लोग अपनी समस्याएं लेकर आए, और कइयों को लाभ भी मिला।

पर इसके साथ ही यह भी कहना आवश्यक है कि यह सूचना के अधिकार का एक ही पहलू है। अतः अभी तक केन्द्रीय सूचना आयोग के सामने जो कुछ हजार मामले आए हैं उनमें से सत्तर से अधिक प्रतिशत सरकारी कर्मचारियों के ही हैं जिन्हें अपने ही विभाग से कोई न कोई शिकायत है। यह तथ्य अपने आप में यह दर्शाता है कि हमारे सरकारी कार्यालयों में कितनी दुर्व्यवस्था है, कारण अगर सरकारी मुलाजिम के साथ उसका अपना ही विभाग उसे पीड़ित कर सकता है तो आम आदमी के साथ इन दफ्तरों में क्या होता होगा?

एक ऐसे ही केस में–जो मेरे कोर्ट में आया था–एक सरकारी कर्मचारी जिसने अपील किया था वह विभाग के लोगों की ओर इशारा कर बोला–'सर, कल तक मैं इन्हीं का सहयोगी था, और आज मुझे ये इतना परेशान कर रहे हैं।' इस पर मैंने कहा–'मेरा अनुभव यह रहा है कि रिटायरमेंट के बाद सरकारी कर्मचारी वैसा ही है जैसे सौ वॉट का बल्ब, पांच वॉट का हो गया हो।' उस पर उस अपीलकर्ता ने कहा : 'सर आप गलत बोल रहे हैं। हमारी हैसियत पांच वॉट बल्ब की नहीं, जीरो वॉट बल्ब की हो जाती है।' फिर मैंने विभाग के कर्मचारियों से कहा, 'आपने सुना–ये क्या कह रहे हैं। आप क्यों भूल जाते हैं कि कल आप की भी यही दशा होने वाली है। इसलिए आज ही आप ऐसी व्यवस्था क्यों नहीं स्थापित करते ताकि जब आप रिटायर हों, तो आपको पूरे सौ वॉट का ही पावर मिले।' मैं तो यही उम्मीद करता हूं कि शीघ्र ही सरकारी दफ्तरों में परिवर्तन की लहर दिखेगी, क्योंकि स्वतंत्र भारत के इतिहास में किसी भी कानून का संभवतः इतने कम समय में इतना व्यापक और इतना गहरा असर नहीं पड़ा है जितना 'सूचना के अधिकार अधिनियम–2005' का।

"इस कानून का दूसरा और अधिक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि इसके मार्फत भ्रष्टाचार और अनियमितता के बड़े–बड़े मामले प्रकाश में आ सकते हैं जिनके फलस्वरूप सरकारी विभागों तथा प्रशासन में व्यापक सुधार हो सकते हैं। दुर्भाग्यवश इस ओर लोगों का ध्यान कम ही गया है। इस ओर मीडिया का भी ध्यान अपेक्षाकृत कम गया है।" उदाहरण के लिए, सरकार की कितनी ही योजनाएं हैं जो काफी खर्च के बावजूद या तो अधूरी रहीं या फिर

असफल हो गईं। अब यह पहली बार है जब आम जनता सरकार से अपने पैसों का हिसाब मांग सकती है। जैसा कि एक स्वैच्छिक संस्था ने नारा दिया भी है : 'हमारा पैसा, हमारा हिसाब'।

अभी हाल में 'इंडिया टुडे' के संवाददाता श्यामलाल यादव ने करीब पचास से ऊपर की संख्या में अपील फाइल कर पता लगाया कि केन्द्रीय सरकार के मंत्रियों ने विदेश यात्रा पर कितना खर्च किया। जो आंकड़े आए, चौंकाने वाले थे। 'इंडिया टूडे' ने इस पर कवर स्टोरी की और मैं विश्वास करना चाहूंगा कि इन आंकड़ों से स्वयं सरकार की आंखें भी खुलीं और प्रधानमंत्री ने अपने सहयोगियों से इस प्रकार की फिजूलखर्ची पर लगाम कसने के निर्देश दिए।

'सूचना का अधिकार' के महत्व के बारे में चर्चा करने के साथ–साथ इससे संबंधित अधिनियम की व्यवस्थाओं की चर्चा भी संभवतः पाठकों के लिए लाभदायक होगी।

यदि हम इस अधिनियम की एक वाक्य में परिभाषा करना चाहें तो वह यूं कुछ होगा : 'सूचना का अधिकार' अधिनियम के अंतर्गत इस देश का कोई भी नागरिक किसी भी सरकारी विभाग से किसी भी प्रकार की सूचना प्राप्त कर सकता है।' इसकी अवश्य ही कुछ सीमाएं हैं, या कुछ ऐसी सूचनाएं हैं जो नहीं प्राप्त की जा सकतीं, पर ये अधिकतर ऐसी हैं जो अगर अधिनियम ने सीमाएं नहीं निर्धारित की होतीं, तब भी नहीं दी जा सकती थीं। जैसे : कौन ऐसी सूचना देगा जिससे देश की प्रभुता अथवा अखंडता प्रभावित होती हो, या फिर कौन ऐसी सूचना देगा जिसके बारे में अदालत ने फैसला कर उस पर पाबंदी लगाई हो, या फिर ऐसी कोई सूचना, जो किसी विदेशी सरकार ने 'गोपनीय' कह कर दी हो... आदि आदि। इस तरह हम देखेंगे कि अधिकतर मामलों में सूचना देने की ही बाध्यता है। यह बात ऐसे भी समझी जा सकती है कि पूरे अधिनियम में कुल 31 धाराएं हैं और इनमें मात्र दो ऐसी हैं (धाराएं आठ और नौ) जो बताती हैं कि किन प्रकार की सूचनाएं नहीं दी जा सकतीं और इनमें भी धारा नौ केवल कॉपीराइट के बारे में है जिसके बारे में संभवतः अभी तक एक भी मामला आयोग के सामने नहीं आया है। कहने का अर्थ यह है कि व्यावहारिक रूप से अधिकतर सरकारी सूचनाएं प्राप्त की जा सकती हैं। अभी हाल में केन्द्रीय आयोग के एक फैसले ने काफी हलचल मचा दी थी। इसके अनुसार अब कोई भी व्यक्ति किसी भी राजनीतिक दल के आयकर से संबंधित सूचना प्राप्त कर सकता है। एक और फैसला जिसके अंतर्गत उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की सम्पत्ति का ब्यौरा मांगा जा सकता है– फिलहाल न्यायालय में है। इस तरह हम देखते हैं कि देश में पारदर्शिता का एक नया और सशक्त माहौल तैयार हो रहा है।

सूचना प्राप्त करने का तरीका भी बहुत आसान है। आप किसी भी सादे कागज पर सूचना प्राप्त करने के लिए आवेदन कर सकते हैं। हां, कुछ सरकारी विभागों ने अपने आवेदन–फार्म जारी किए हैं और यदि आप उस फार्म के माध्यम से आवेदन करते हैं तो अच्छा और सुविधाजनक है, वरना यह आवश्यक नहीं कि आप फार्म का इस्तेमाल करे हीं। आवेदन में आपको केवल अपना नाम, पता और जो सूचना आप प्राप्त करना चाहते हैं, उसका ब्यौरा देना है। आवेदन जितना संक्षिप्त होगा और मांगी गयी सूचना जितनी स्पष्ट होगी, सूचना खोजने तथा देने में उतनी अधिक सुविधा होगी। दिक्कत तभी होती है जब आवेदन लंबे–लंबे होते हैं और जिनमें जो सूचना मांगी गई है, उसके बारे में तो कम, उसकी पृष्ठभूमि के बारे में अधिक लिखा होता है। कभी–कभी तो तीन–चार पृष्ठ पढ़ने के बाद भी पता नहीं चलता कि प्रार्थी आखिर किस प्रकार की सूचना चाहता है।

आप अपने आवेदन–पत्र को उस संबंधित विभाग के सूचना अधिकारी के पास जमा करवा सकते हैं या फिर डाक से भी भेज सकते हैं। प्रत्येक आवेदन के साथ दस रुपए की फीस जमा करनी पड़ती है। यह फीस नगदी तथा बैंक ड्राफ्ट और पोस्टल आर्डर के माध्यम से भी दी जा सकती है। गरीबी रेखा के नीचे के प्रार्थी के लिए यह फीस माफ है।

आपने जिस सरकारी विभाग में आवेदन दिया है, उसके सूचना अधिकारी को उत्तर अथवा सूचना देने के लिए तीस दिन का समय मिलता है। यह समय उस दिन से आरम्भ माना जाता है जिस दिन आपने दस रुपये जमा किए हैं। जिस सूचना अधिकारी के पास आपने आवेदन जमा किया है अथवा भेजा है, उसके पास अगर वह सूचना नहीं है तो उसे पांच दिन का समय मिलता है जिसके अंदर उसे संबंधित सूचना अथवा विभाग को आपके आवेदन पत्र को आगे भेजना है। इसका अर्थ हुआ कि तीस–पैंतीस दिनों में आपने जो सूचना मांगी है वह आपको मिल जानी चाहिए या फिर आपको बताया जाना चाहिए कि वह क्यों नहीं मिल सकती या फिर कितने दिनों में मिल सकती है। यदि इस अवधि में आपको संबंधित विभाग से कोई उत्तर प्राप्त नहीं होता तो आप सीधे सूचना आयोग में शिकायत कर सकते हैं। यदि यह विभाग केन्द्रीय सरकार के अधीन है तो केन्द्रीय सूचना आयोग अथवा संबंधित राज्य सूचना आयोग में आप निर्धारित समय सीमा के भीतर किसी प्रकार का उत्तर नहीं पाने की शिकायत कर सकते हैं और ऐसी शिकायतों को आयोग गंभीरता से लेते भी हैं।

दूसरी ओर मान लीजिए कि आपको निर्धारित समय सीमा के अन्दर विभाग का उत्तर मिल जाता है पर आप उस सूचना से सन्तुष्ट नहीं है, कारण वह अधूरी है या फिर गलत अथवा भ्रामक है तब आप उसी विभाग में अपीलीय अधिकारी के पास शिकायत कर सकते हैं। इस अपीलीय अधिकारी को फिर तीस दिन का समय मिलता है, जिसके अंतर्गत उसे यह फैसला करना है कि या तो वह सूचना अधिकारी के निर्णय से सहमत है या फिर उसे सही और पूरी सूचना देने के लिए कहेगा।

मान लें कि आप अपीलीय अधिकारी के निर्णय से

भी संतुष्ट नहीं हैं तब आप केन्द्रीय अथवा संबंधित राज्य सूचना आयोग के पास अपील कर सकते हैं। ध्यान रहे कि इस सारी प्रक्रिया में आपको बस दस रुपये मूल आवेदन के साथ देने हैं। हां, अगर आप किसी दस्तावेज की छायाप्रति चाहते हैं तो उसके लिए अलग से साधारण सा शुल्क है।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, भारत द्वारा पारित सूचना से संबंधित ही ऐसा कानून है जिसमें दंड की व्यवस्था है। मान लीजिए आपने लोक सूचना अधिकारी को सही शुल्क के साथ अपनी अर्जी दी और उसने जान–बूझ कर निर्धारित समय सीमा में उसका उत्तर नहीं दिया या फिर उसने सही जानकारी नहीं दी या फिर उस सूचना–विशेष को नष्ट कर दिया तो ऐसी अवस्था में अधिनियम की धारा 20 (Section 20) की व्यवस्था के अनुसार उस पर 250/–रुपये प्रतिदिन के हिसाब से 25,000/– रुपये तक का जुर्माना लगाया जा सकता है। इतना ही नहीं, सूचना आयोग ऐसे अधिकारियों के खिलाफ़ प्रशासनिक कार्यवाई की अनुशंसा भी कर सकता है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि यह अधिनियम हर प्रकार से सरकारी विभाग को सूचना देने के लिए बांध देता है अथवा बाध्य कर देता है।

''इतना कुछ होने के बावजूद क्या हम कह सकते हैं कि सूचना अधिनियम से देश की आम जनता की आशाएं पूरी हुई हैं या उसका इतना असर हुआ है जितनी की इससे आशाएं थीं?और अगर ऐसा नहीं है तो इसके कार्यान्वयन में किस प्रकार की बाधाएं हैं?''

इस प्रश्न का उत्तर आसान नहीं है। इस बात को तो अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस कानून से संभवतः लाखों लोगों को लाभ हुआ है। वर्षों की समस्याओं का समाधान महीनों अथवा दिनों में हो गया है। इसके बावजूद इस कानून में जो निहित संभावनाएं हैं, उनका पांच प्रतिशत भी उपयोग नहीं हो पाया है। इसका एक कारण तो यह है कि इस कानून का जितना प्रचार–प्रसार होना चाहिए था, वह नहीं हो रहा। पर इस कानून के कार्यान्वयन में जो सबसे बड़ी बाधा है, वह इससे जुड़े लोगों की मानसिकता ही है। कुछ हद तक यह स्वाभाविक भी है, कारण प्रशासन में गोपनीयता की मानसिकता तो सदियों पुरानी है और यह कुछ दिनों अथवा महीनों या कुछ ही वर्षों में बदल जाए, थोड़ा कठिन लगता है। आयोग के सामने पेश हुए मामलों में जब सरकारी अधिकारी पेशी के लिए आते हैं और उन्हें आदेश दिया जाता है कि अपीलकर्ता को फलां फाइल दिखा दीजिए या वह पूरे फाइल की ही छायाप्रति मांगे तो दो रुपये प्रति पेज के हिसाब से पैसे लेकर उसे सारा कुछ दे दीजिए तो उनके चेहरे पर अविश्वसनीयता और आश्चर्य की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है और कभी–कभी कुछ अधिकारी तो बोल भी पड़ते हैं : 'सर, लेकिन यह फाइल तो हम दिखा ही नहीं सकते क्योंकि हमारे विभागीय कानून के अनुसार यह अत्यंत गोपनीय है।' ऐसी अवस्था में उन्हें बताना पड़ता है कि अब सूचना के अधिकार अधिनियम के आने के बाद दुनिया बदल गई है : 'गोपनीयता' की परिभाषा भी बदल गई है।

मैं इस आलेख को उसी बात से समाप्त करना चाहूंगा जिससे मैंने इसे आरम्भ किया था : ' आज हम भारत के लोगों को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं– एक, जो अक्तूबर 2005 के पूर्व की मानसिकता लिए जी रहे हैं, और दूसरे वे, जिन्होंने स्वयं को अक्तूबर 2005 के बाद की मानसिकता में ढाल लिया है और जितनी तेजी से पहले वर्ग के लोग–हर श्रेणी, हर जाति, हर धर्म, शिक्षित या अशिक्षित, अमीर या गरीब, और हां, विशेषकर हर स्तर के सरकारी अधिकारी–पहली श्रेणी से दूसरी श्रेणी में आते हैं, उतनी ही तेजी से हमारा लोकतंत्र और सुदृढ़ होगा, भ्रष्टाचार पर अंकुश लगेगा और विकास की गति तेज होगी। ('आजकल' से साभार)।

●●●●

*पूर्व मुख्य सूचना आयुक्त,
'केन्द्रीय सूचना आयोग, नई दिल्ली

विमर्श-३

हिन्द स्वराजः एक हिन्दू आलोचना

शंकर शरण*

"यह कहना सही नहीं होगा कि गांधी जी तो बड़े अच्छे थे, उनके विचार उत्कृष्ट थे, लेकिन उनके शिष्य बड़े नालायक निकले। क्योंकि तब यह भी मानना ही होगा कि गांधीजी के शिष्यों पर गांधी जी के विचारों, जीवन-शैली, उपदेशों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तब यह स्वयं गांधी जी के विचारों की निरर्थकता, निष्प्रभाविता, काल्पनिकता पर एक टिप्पणी होगी"

"एक वर्ग आक्रामकता से ऐसे सिकुड़ता है मानो वह पाप हो। उनकी पुकार है, 'घृणा का उपचार प्रेम से करो, अन्याय को न्याय से भगाओ, पाप को सदाचार से काटो'। प्रेम एक पवित्र नाम है, पर उसकी चर्चा करना सरल है, प्रेम करना उतना सरल नहीं।..... जो युद्ध से, उसे पाप समझकर और आक्रामकता को नैतिकता का पतन मानकर सिकुड़ते हैं उनके लिए गीता सबसे उत्तम उत्तर है।

वह दर्शन जो सभी कर्मों पर एक ही मशीनी नियम लागू करता है, अथवा एक शब्द लेता है और उसमें सारे मानव जीवन को बैठाने का प्रयास करता है, वह निरर्थक है। एक योद्धा की तलवार न्याय और सदाचार की पूर्ति के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी कि एक संत की धार्मिकता। शिवाजी के बिना रामदास पूर्ण नहीं हैं। न्याय की रक्षा करने और उसे छीनने से तथा निर्बल को दबाए जाने से बलवान को रोकने के लिए ही क्षत्रिय बनाया गया"

– श्रीअरविन्द

1. हिन्द स्वराज में महात्मा गांधी ने भारतीय दृष्टि से सभ्यता, समानता, सुख, समृद्धि, वैश्विक शांति–सद्भाव की अवधारणा रखी थी। यदि हिन्द स्वराज को आधार मानें तो हमारे देश ने अनेक क्षेत्रों में दुर्गति की दिशा में प्रगति की है। तब यह कौन सी मानसिकता है जो एक ओर महात्मा गांधी की जय–जयकार करती, उन्हें अतिरंजित महिमा–मंडित करती है, जबकि उन की सभी मूलभूत शिक्षाओं, आकांक्षाओं को घूरे पर फेंक कर मुदित होती है?

यह मानसिकता है आत्मसमर्पण और हीनताबोध की। इसे मानों एक नशे के रूप में अंग्रेजी शिक्षा और भाषा के वर्चस्व ने हमारे बुद्धिधर्मी वर्ग के रक्त में पहुँचा दिया है। इस रुग्णावस्था को विदेशों में सफल भारतीयों की गिनती से नहीं छिपाया जा सकता। व्यापार और उद्योग जीवन के महत्वपूर्ण पक्ष अवश्य हैं, किंतु केंद्रीय नहीं। केंद्रीय चीज है : संतोषपूर्ण जीवन एवं भाविक उल्लास, सांस्कृतिक वैभव, नैतिक श्रेष्ठता, आध्यात्मिक परिपूर्ति, सामाजिक सौहार्द्र व सुख–समृद्धि। यही बात हिन्द स्वराज में दुहरायी गई थी। केवल 'लाभ' नहीं, 'शुभ लाभ'।

सिद्धांत और व्यवहार में भी यूरोपीय–अमेरिकी लोकतंत्र का एकांगी, भोगवादी, संकीर्ण एवं ईसाई–साम्राज्यवादी रूप पश्चिमी देशों में भी देखा जा सकता है। वह उन व्याधियों को दूर नहीं कर सका है जिसे गांधी ने रेखांकित किया था। क्योंकि वह उन व्याधियों को सीमित विचार–दृष्टि और तदनुरूप राजनीतिक तंत्र की देन न समझकर मानव जीवन की सामान्य स्थिति बताकर संतोष कर लेता है।

दुर्भाग्यवश हमारे देश के अधिकांश बुद्धिजीवी अमेरिकी–यूरोपीय लोकतंत्र के पूर्वाग्रहों से प्रायः अनजान हैं। इसीलिए वे नेपाल का विनाश यह सोचकर खुश होते देखते रहे कि वहां 'लोकतंत्र' आ रहा है! इसी मतिभ्रम में वे पश्चिमी देशों की भारत संबंधी नीतियों की भी सही समीक्षा नहीं कर पाते उल्टे लोकतंत्र के नाम पर असंख्य ऐसी नीतियाँ या संस्थाएं बना डालते हैं जो हमारे हित में नहीं, किन्तु जिनका पश्चिमी संस्थाएँ और हमारे अपने स्वार्थी तत्व भी जमकर दुरुपयोग करते हैं। तरह–तरह के विजातीय या निष्फल कानून, मानवाधिकार आयोग, अल्पसंख्यक चिंता संबंधी संस्थान आदि का गठन, सेक्स शिक्षा समेत शिक्षा में तरह–तरह के कुविचारों का प्रसार, आदि अनेक कार्य केवल अंधानुकरण में किए गए हैं। उसमें पश्चिमी एजेंसियों, सरकारों की प्रत्यक्ष भौतिक, कूटनीतिक प्रेरणाएं भी रहती हैं। फिर भी हमारे नेता, सांसद क्षण भर भी रुककर विचर नहीं करते कि यह सब प्रेरणाएं किन उद्देश्यों से दी जा रही हैं? न यही विचार करते हैं कि हमारे समाज की परंपरा, मान्यताएँ और स्थितियाँ वैसी नहीं हैं जिनके संदर्भ में पश्चिम ने अपने यहां वह सब नियम या संस्थाएँ बनाई थी।

इसलिए नेपाल या भूटान में लोकतंत्र आ रहा है, इस पर ताली बजाने से पहले पश्चिमी सभ्यता की अन्य विशेषताओं को भी समझना चाहिए। जैसा धर्मपाल ने रेखांकित किया था, यूरोपीय सभ्यता कुछ इस तरह बनी है कि उस के संपर्क से अधिकांशतः दूसरी सभ्यताओं का नाश हो जाता है। अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, अफ्रीका के कई देशों में तो यह पिछली पाँच सदियों में हुआ ही है। उस से पहले भी हुआ हैं। यदि यूरोपीय सभ्यता एवं उसके विचार और सोच–विचार के तरीके हावी रहे तो संभव है कि भारतीय और दूसरी सभ्यताएं भी मूल अमेरिकी सभ्यताओं की तरह आने वाले समय में समाप्त हो जाएं। यहाँ विचारणीय है कि न केवल ब्रिटिश अध्यक्षता में, बल्कि

पश्चिमी विचारों वाले हमारे राजनेताओं की सहमति से, उनमें पश्चिमी किस्म की दलगत, स्वार्थपरक राजनीति जमने के बाद ही 1947 में भारत का पहली बार वह विखंडन हुआ जो सदियों की इस्लामी पराधीनता काल में भी नहीं हुआ था। क्या इसे भी पश्चिमी विचारों का प्रभाव न माना जाए?

हिन्दू स्वराज में 'बल' और 'हिंसा' को पर्याय बना दिया गया है। यह हिन्दू चिंतन के विरूद्ध है। हिन्दू दर्शन में धर्म-रक्षा के लिए, न्याय के लिए, किसी उत्पीड़क को दंडित करने के लिए शस्त्र उठाना धर्म का अपरिहार्य अंग माना गया है। पूरी गीता और रामायण इस शिक्षा से संपृक्त है। पर गांधी उसे अनसुनी करते थे।

पर यह भी एक विडंबना ही है कि जिन बातों में गांधी गलत थे, उन्हीं को स्वतंत्र भारत में सत्ताधारियों ने बढ़-चढ़ कर अपनाया। जबकि जिन बिंदुओं पर गांधी ने सत्य पकड़ा था, ठीक उन्हीं की उन के अनुयायियों ने पूरी हेठी की। उसमें पश्चिमी सभ्यता का मूल्यांकन सबसे मूल्यवान अंश है, जिसे गांधी ने 'चांडाल सभ्यता' तक कहा। उसकी तुलना में भारतीय सभ्यता की अतुलनीय श्रेष्ठता भी दिखाई। स्वतंत्र भारत को अपनी ही सभ्यता के मार्ग पर बढ़ना चाहिए था। वही सहज होता, स्वभाविक और स्वस्तिकारक भी।

2. दूसरी विडंबना यह है कि नये भारत के निर्माण कार्य को हिन्द स्वराज के सभ्यतागत विचार से दूर करने का आरंभ स्वयं गांधी के, उन के ही शब्दों में 'उत्तराधिकारी' और सबसे प्रियपात्र जवाहरलाल नेहरू ने किया था। कम से कम इस कार्य में- अपना उत्तराधिकारी ऐसे व्यक्ति को चुनने जो हिन्द स्वराज के दर्शन का घोषित विरोधी और पश्चिमी सभ्यता का अनुगामी था; उसी को कांग्रेस नेतृत्व पर बलपूर्वक थोपने तथा स्वतंत्र भारत का प्रथम मार्गदर्शक बनाने में- गाँधी स्वयं उत्तरदायी थे।

गाँधी का दोष और गंभीर लगता है जब देखें कि वे नेहरू की सभी दुर्बलताओं, विशेषताओं से अच्छी तरह परिचित थे। वह इससे भी अवगत थे कि वैचारिक, चारित्रिक रूप में गांधी से भिन्न होने के बावजूद उन्हीं को अपना उत्तराधिकारी बनाना समकक्षी कांग्रेस नेताओं को गांधी का निजी पक्षपात लगेगा। इसीलिए गांधी जी ने एक कैफियत दी, मानों अपने अटपटे कार्य की झेंप मिटाने के लिए, कि "जब मैं नहीं रहूंगा तो जवाहरलाल मेरी भाषा बोलेगा" यह तो न होना था, न हुआ। क्या इसीलिए गांधी ने अपने मोहग्रस्त नेहरू-प्रेम और पटेल के प्रति अन्याय के बचाव के लिए ऐसी बोदी कैफियत दी थी? जिसके साफ गलत साबित होने पर सफाई देने के लिए दिवंगत गांधी को नहीं बुलाया जा सकेगा?

अतएव यह कहना सही नहीं होगा कि गांधी जी तो बड़े अच्छे थे, उनके विचार उत्कृष्ट थे, लेकिन उनके शिष्य बड़े नालायक निकले। क्योंकि तब यह भी मानना ही होगा कि गांधीजी के शिष्यों पर गांधी जी के विचारों, जीवन-शैली, उपदेशों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तब यह स्वयं गांधी जी के विचारों की निरर्थकता, निष्प्रभाविता, काल्पनिकता पर एक टिप्पणी होगी कि उनके विचार भी अव्यवहारिक, कृत्रिम थे। दूसरे, गांधीजी ने स्वयं जवाहरलाल नेहरू को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था। अकेले यही एक घटना गांधीजी के विचार, सिद्धांत, शैली, राजनीतिक सूझ-बूझ, दूर-दृष्टि, विरासत आदि का मूल्यांकन करने के लिए पर्याप्त है।

सर्वविदित था कि नेहरूजी के विचार किसी भी क्षेत्र में गांधीजी से नहीं मिलते थे। गांधीजी भी इस से अच्छी तरह परिचित थे। दोनों के बीच 1930 के दशक में इस पर पत्र-व्यवहार हुआ था और स्पष्टतः दोनों दो वैचारिक-दार्शनिक छोर पर थे और कोई किसी को कायल नहीं कर सका था। गांधी भारतीय चिंतन को आधार मानते थे, नेहरू यूरोपीय को। गांधी सनातन हिंदू धर्म को अपना अवलंब मानते थे, तो नेहरू उसे ही भारत का भविष्य समझते थे और विराट कारखानों को 'नए भारत के मंदिर' कहते थे। गांधी का जीवन सादा था, नेहरू का ठीक उल्टा। गांधी भारत के ग्राम-समाज और ग्रामवासियों को बुद्धिमान, आत्मविश्वासी और पुनर्निर्माण का मूल आधार मानते थे, तो नेहरू उन्हें मूर्ख, अंधविश्वासी, बेकार समझते थे, आदि। इसप्रकार, जिस व्यक्ति के कोई विचार या कार्य गांधी से समान न थे, उन्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित करना, वह भी जब इस की कोई आवश्यकता तक न थी, यह गांधी जी के दार्शनिक चिंतन और राजनीतिक व्यवहार अथवा दूरदर्शिता का क्या मूल्यांकन करता है?

ध्यान रहे कि नेहरू जी की 'ब्राउन साहब' वाली यह विशेषताएँ जग-जाहिर थीं। स्वयं नेहरू जी ने अपने को किंचित गर्वपूर्वक ही 'अंतिम अंग्रेज' शासक कहा था। न केवल उन की जीवन-शैली जीवनपर्यंत अंग्रेजों जैसी रही, बल्कि विचार, दर्शन और भविष्य की कल्पनाओं में भी वे कहीं भी यूरोपीय मॉडलों से अलग सोच नहीं पाते थे। गांधीजी के साथ तीस वर्ष के संसर्ग के बाद भी नेहरू पर गाँधी-विचार का लेश-मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा था। तब हिन्द स्वराज में प्रस्तुत की गई उस तजवीज का क्या महत्व है कि किसी को "समझा कर उस के मन से बुराई का बीज ही निकाल दें"? गांधी उस 'अंग्रेजियत' का बीज नेहरू के मन से कभी नहीं निकाल सके जिसकी कठोर आलोचना उन्होंने अपनी पुस्तक में की थी। न मुहम्मद अली, शौकत अली, अब्दुल बारी, सुहरावर्दी या जिन्ना जैसे अपने किसी 'मुस्लिम भाई' के मन से इस्लामी अहंकार से जुड़े किसी बीज को निकाल सके थे। तब वह सिद्धांत किस काम और

किसके लिए है?

गाँधी और नेहरू की नितांत विपरीत विचार–दृष्टि का समकालीन महापुरुषों, नेताओं और विद्वानों ने भी नोट किया था। सुभाष चंद्र बोस, चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, क. मा. मुंशी, एन.वी. गाडगिल, प. सीतारमैया, प्यारेलाल आदि जिन भी समकालीनों ने इस पर लिखा है, यही लिखा है कि दोनों अपने विचारों में लगभग पूर्णतः विपरीत थे। अतः जिस व्यक्ति के कोई विचार या कार्य गांधी से समान न थे, उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित करना– जबकि इसकी कोई आवश्यकता तक न थी– यह गांधी जी के राजनीतिक चिंतन और व्यवहार का क्या मूल्यांकन करता है? गांधी किसी कंपनी के मालिक या मठ के मठाधीश नहीं थे, जो किसी को अपना 'उत्तराधिकारी' घोषित करते। उन्होंने नेहरू को अपना उत्तराधिकारी किस बात के लिए नियुक्त किया था? और जब किया ही, तो उस उत्तराधिकारी द्वारा किए कर्मों के मूल्यांकन में स्वयं गांधीजी पर जो गहरी छाया पड़ती है, उसपर भी तो ईमानदारी से विचार करना चाहिए।

नेहरू उसी आंग्लीकृत वर्ग के सहज और जाने–माने प्रतिनिधि थे जो मन और विचार से पश्चिम से पराभूत हो चुका था। यूरोपीय संस्थाओं, नारों और महानुभावों के प्रति नेहरूजी में भारी आकर्षण था। चाहे यह भी विरोधाभासी सत्य है कि वह यूरोपीय मानसिकता और सच्चाइयों को ज्यादा नहीं समझते थे। इस बिंदु पर गुरुदत्त ने नेहरू की तुलना मुहल्ले के उस उत्साही बालक से की है जो सड़क पर बाजे–गाजे के साथ आने वाले हर जुलूस में शामिल हो जाता है। 1928 ई. में सोवियत रूस पर लिखी नेहरू की पुस्तक से लेकर 1964 तक प्रधान मंत्री के रूप में विदेश नीति, शिक्षा और विकास संबंधी उन के अंतिम वक्तव्यों तक इस कड़वे सत्य को परखा जा सकता है। प्रथम प्रधान मंत्री के रूप में उन्होंने नये भारत को पश्चिमी वामपंथी दिशा दी। यह उससे नितांत विपरीत था जो भारतीय सभ्यता का स्वाभाविक पथ रहा है, जिसके शाश्वत् माहात्म्य की हिन्द स्वराज में मुक्त कंठ से अनुशंसा की गई थी।

3. यह तीसरी विडंबना है कि हिन्द स्वराज के सबसे संजीदा अंश वही हैं, जिन्हें हमारे शिक्षित वर्ग के लोग सबसे हास्यास्पद मानते हैं। जैसे, ब्रिटिश संसद, रेल, वकील, डॉक्टर और भारत में अंग्रेजी शिक्षा की कटुतम् आलोचना। चाहे ऊपर से यह विचित्र लगे, पर वास्तव में यही आलोचनाएं उस पुस्तक के पूरे तर्क–वितर्क में सबसे सधी हुई हैं। चाहे इसका कारण यह भी हो कि यह सब गांधी के अपने मौलिक विचार नहीं, बल्कि मुख्यतः 'लेव टॉल्सटॉय', 'रस्किन' और 'थोरो' जैसे चिंतको के थे। हिन्द स्वराज की भूमिका में गांधी ने स्वयं लिखा है कि इस में वर्णित विचार कुछ पुस्तकों को पढ़कर बने हैं। वे पुस्तकें इन्हीं चितकों की थीं। हिन्द स्वराज के अंत में इन पुस्तकों की सूची भी है। ध्यान रहे, इस सूची में दी गई दार्शनिक पुस्तकें सभी विदेशी, पश्चिमी चिंतकों की हैं। भारतीय मनीषा के किसी ग्रंथ को उसमें स्थान नहीं मिला है। यहाँ तक कि गीता और रामचरितमानस को भी नहीं, जिन्हें गांधी सदैव अपना मार्गदर्शक मानते थे। तब हिन्द स्वराज के चिंतन को 'और विस्तार से समझने' की दृष्टि से दी पुस्तक सूची में इन में से भी किसी का नाम क्यों नहीं है? क्या इसलिए कि हिन्द स्वराज के केंद्रीय संदेश की पुष्टि इनसे नहीं होती, बल्कि उल्टे यह संदेश गीता या रामचरित मानस के दर्शन से विपरीत पड़ता है?

हिन्द स्वराज का मुख्य संदेश किसी राजनीतिक दर्शन या रणनीति की प्रस्तुति नहीं, बल्कि हर हाल में अहिंसा की पैरोकारी है। अहिंसा और प्रेम। यह हू–ब–हू महान रूसी लेखक लेव टॉल्सटॉय का दर्शन है, जिन्हें गांधी अपना गुरु मानते थे। टॉल्सटॉय का प्रसिद्ध लेख "क्या करें?" (1906) पढ़ें तो यह बिलकुल स्पष्ट हो जाएगा कि हिन्द स्वराज में प्रस्तुत अहिंसा और प्रेम को हर हाल में सब रोगों की एक दवा मानना गीता और रामचरितमानस का नहीं, बल्कि टॉल्सटॉय का अनुकरण ही है। चाहे मात्र शब्दों में। क्योंकि व्यवहार में गांधी ने टॉल्सटॉय के शिष्य नहीं, बल्कि एक सामान्य राजनीतिक नेता की तरह आचरण रखा था।

अर्थात्, व्यावहारिक कार्यक्रम बनाने में दाँव–पेच, लाभ–हानि, आगा–पीछा, झूठ–सच, आदि का उपयोग ताकि समय के अनुरूप इच्छित राजनीतिक लक्ष्य प्राप्त किया जा सके। इसीलिए अहिंसा की ऐसी ऐकांतिक पैरोकारी करते रहने के बाद प्रथम विश्व–युद्ध में अंग्रेजों की सेना में भारतीय सैनिकों की भर्ती करने के काम को गाँधी ने अपनी इच्छा और परम उत्साह से किया था। बल्कि भारत आकर यह उनका पहला सबसे बड़ा अभियान था। वह भी तब जबकि भारतीय इसके लिए तनिक भी इच्छुक न था। जब गाँव–गाँव जाकर सेना में भर्ती होने के लिए लोगों से गांधी आग्रह कर रहे थे, तो लोग उन्हें ताना देते थे कि अहिंसा के पैरोकार होकर वह अंग्रेज सेना में भारतीयों को ले जाने के लिए क्यों उत्सुक हो रहे हैं! निश्चय ही, टॉल्सटॉय के लिए यह कार्य अकल्पनीय होता। जबकि गांधी ने व्यवहारिक जीवन में कई बार– न केवल बोअर युद्ध और प्रथम विश्व–युद्ध में अंग्रेजों के लिए भारतीय सैनिकों की भर्ती कराने में– बल्कि 1942, 1946, 1947 में कई अन्य अवसरों पर भी हिंसा–अहिंसा की चिंता नहीं की थी। डॉ. राममनोहर लोहिया ने अपने लेख 'गांधी जी के दोष' में ठीक भयंकर हिंसा होने की संभावना की जानकारी के बावजूद देश–विभाजन स्वीकार करने के लिए अत्यंत कटु शब्दों में गांधी जी की आलोचना की है।

फिर भी, हिन्द स्वराज में अहिंसा की जैसे–तैसे, हर हाल में पैरोकारी ही उस पुस्तक की वह चीज है जिसमें गाँधी जी की मौलिकता दिखती है। चाहे यह मौलिकता कई स्थलों पर हास्यास्पद हो गयी है, पर गांधी हर मामले में अहिंसा को ही उपाय बताना चाहते हैं। जैसे, चोर को किसी भी तरह से, यानी मार–पीट कर, यानी हिंसा का सहारा लेकर भी घर से निकाल बाहर करने की इच्छा का विरोध वे इन शब्दों में करते हैं, "मान लो, मेरा पिता मेरे घर में चोरी

करने आ जाए तो...''। ऐसी नितांत अस्वाभाविक बात को प्रथम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करना हास्यास्पद ही नहीं, तर्ककार की भारी दुर्बलता का भी प्रमाण है। घर में चोरी करने घुसे चोर को क्यों डंडा मार कर नहीं भगाना चाहिए, इस के लिए यदि कोई चोर का 'पिता' रूप में प्रस्तुत करे तो स्पष्ट है कि उस के पास कोई मजबूत तर्क नहीं है। इसीलिए वह पिता के प्रति सहज सम्मान भावना का दुरुपयोग करते हुए चोर को पिता बना देता है, कि बच्चू! अब तो मानों कि तुम्हें चोर को पीटना नहीं चाहिए। पर यह कोई तर्क नहीं हुआ। यह तो किसी का भावनात्मक रूप से दोहन करना हुआ कि वह चुप हो जाए।

कहने का आशय यह कि हिंसा बनाम अहिंसा के प्रति हिन्द स्वराज में जो प्रश्न रखे गए हैं वह बड़े हल्के और सुविधाजनक हैं। जिनका गांधी अपनी समझ से खूब शानदार उत्तर देते हैं और खुद ही स्वयं को शाबाशी भी दे देते हैं। उनके स्थलों पर प्रश्नकर्ता कहता है कि ''आपने मेरा संदेह दूर कर दिया'', 'आपने मुझे कायल कर लिया', आदि। यह देखते हुए कि प्रश्न और उत्तर दोनों गांधी के द्वारा ही लिखे गए हैं, यह स्पष्टतः भरपूर आत्म–प्रशंसा ही है। संक्षेप में इतना ही, कि हिंसा और अहिंसा संबंधी अधिकांश प्रश्न और उत्तर काल्पनिक व हल्के किस्म के हैं जिससे हिन्द स्वराज भरा पड़ा है।

यह इससे भी स्पष्ट है कि उस पर गंभीर प्रश्न उठाने वाले किसी वास्तविक व्यक्ति से गांधी ने कभी संवाद नहीं किया जैसे– श्रीअरविन्द, चंद्रशेखर आजाद या डॉ. अम्बेडकर। दरअसल, गांधी वैसे प्रखर भारतीय नेताओं या मनीषियों से बचते थे जो उन्हें पहल से ही 'महात्मा' मानकर वैचारिक और भावनात्मक रूप से झुकने के लिए तैयार न हों, अथवा जो उन्हें विचार, तर्क या बुद्धि में पराजित कर सकते थे। डॉ. अम्बेडकर ने लिखा है कि गांधी बराबरी से विचार करने वालों के साथ बैठना–विचार करना पसंद नहीं करते थे। हिंसा वाले प्रश्न पर श्रीअरविन्द के गीता भाष्य पर गांधी ने कहा भी था कि उन के पास श्रीअरविन्द की बातों का कोई उत्तर नहीं है। इसके बावजूद वे अहिंसा की अपनी दलील से हटने के लिए तैयार नहीं थे। तब क्या हिन्द स्वराज किसी भोले–भाले, कम जानकारी वाले युवाओं या विदेशियों को प्रभावित करने के लिए लिखी गई थी?

4. यह भी विडंबना है कि चाहे गांधी की विश्व–ख्याति एक हिन्दू महात्मा और अहिंसा के पैगंबर के रूप में हुई, पर अहिंसा पर उनके संपूर्ण विचार नितांत अ–हिन्दू थे। भारतीय शास्त्र या लोक में कहीं उसके लिए कोई अनुशंसा नहीं मिलती। अहिंसा की गांधीवादी व्याख्या रामायण और महाभारत के नितांत विरुद्ध है। सारे के सारे हिन्दू देवी और देवताओं से ओत–प्रोत हैं। योगीश्वर कृष्ण और धर्मराज युधिष्ठिर ने भी शस्त्र उठाकर धर्म–रक्षा की थी। वन में ऋषियों के यज्ञ का ध्वंस करने वाले राक्षसों से उनकी रक्षा सभी राजकुमार धनुष–बाण से ही करते थे। उसमें कहीं भी अस्त्र–शस्त्र कोई सांकेतिक रूपक नहीं, बल्कि सीधे अर्थ में वर्णित हैं। कहीं भी असुरों, राक्षसों या पापियों ''के मन से बुराई का बीज ही निकाल देने'' के विचार तक का संकेत नहीं मिलता है।

इतना ही नहीं, हिन्दू शिक्षा–दीक्षा में अस्त्र–शस्त्र संचालन का प्रमुख स्थान था। उसे धर्म, दर्शन और नैतिकता के ज्ञान से दूर या हीन नहीं माना गया था। भारतीय सभ्यता की धर्म–प्राणता में वैभव और शौर्य का भी ऊँचा स्थान रहा है। राम,लक्ष्मण, कर्ण, अर्जुन या भीम सबकी विशिष्टताओं में किन बातों का सर्वप्रथम उल्लेख होता रहा है? गुरु वशिष्ठ हों या गुरु द्रोणाचार्य, उनकी दी गयी शिक्षाओं में अस्त्र–शस्त्र की शिक्षा का प्रमुख स्थान था। किसलिए? क्या वे सत्य, अहिंसा और धर्म के महान ज्ञाता नहीं थे? वस्तुतः गांधीजी की अहिंसा ईसाईयत की धारा, रूसी ईसाइयत से गहरे प्रभावित थी। वह हिन्दू अथवा भारतीय विचार नहीं था।

गांधी 'सत्याग्रह' और 'अहिंसा' को एक दूसरे का पर्याय और पूरक बना देते हैं। जबकि हिन्दू चिंतन में सत्य और अहिंसा नितांत दो स्वतंत्र अवधारणाएं हैं। सत्य को गुणातीत माना गया है। जबकि हिंसा और अहिंसा सापेक्ष मूल्य रखते हैं। किस कारण, किस परिस्थिति में और किस पर बल का प्रयोग किया गया है, इसके आधार पर ही हिन्दू दृष्टि में किसी बल प्रयोग को हिंसा कहा जाता है। जबकि गांधी ने बल–प्रयोग मात्र को हिंसा कह दिया है। वे बाहुबल या शस्त्र–बल को सीधे–सीधे 'पशु–बल' कहकर लांछित कर देते हैं। इसीप्रकार 'अहिंसा' को आत्म–बल और आत्म–बल को 'प्रेम' और अंततः 'ईश्वर' का समानार्थी बना दिया। यह पूरी चीज सुनने में चाहे अच्छी लगती हो, किन्तु नितांत अ–हिंदू धारणा है।

हिन्द स्वराज में 'बल' और 'हिंसा' को पर्याय बना दिया गया है। यह हिन्दू चिंतन के विरुद्ध है। हिन्दू दर्शन में धर्म–रक्षा के लिए, न्याय के लिए, किसी उत्पीड़क को दंडित करने के लिए शस्त्र उठाना धर्म का अपरिहार्य अंग माना गया है। पूरी गीता और रामायण इस शिक्षा से संपृक्त है। पर गांधी उसे अनसुनी करते थे। पूछने पर भी वे प्रायः एक ही किताबी उत्तर देते थे कि अत्याचारी, बलात्कारी, दुष्ट को ''मारने की अपेक्षा मर जाएँ''। खिलाफत आंदोलन में जिहादियों के हाथों मोपला के हिंदुओं पर हुए भीषण अत्याचार पर उन्होंने यही कहा था। वहीं उन्होंने 1947 में पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल के हिंदुओं–सिखों को कहा ऐसी ही सलाह उन्होंने ब्रिटेन के लोगों को बिना मांगे दी जब उन पर हिटलर का आक्रमण आसन्न दिख रहा था। यही उन्होंने उन लाखों यहूदियों के लिए कहा था जिन्हें 1945–1993 के बीच जर्मन नाजियों और रूसी कम्युनिस्टों ने यूरोप में मौत के घाट उतार दिया।

गांधी की जीवनी लिखने वाले जर्मन लेखक लुई फिशर ने बाद में भी उन से पूछा कि इतनी बड़ी संख्या में बेचारे निरीह, निर्दोष यहूदी मारे गए– क्या उनके द्वारा हथियार उठाकर हत्यारों का प्रतिकार करना उचित न होता? उत्तर में गांधी ने कहा, नहीं। अर्थात्, वे निरपराध लाखों यहूदी अबाल, वृद्ध, नारी, युवा सभी असहाय मर गए,

यही अच्छा हुआ। यदि वे अस्त्र–शस्त्र उठाकर नाजियों या कम्युनिस्टों का प्रतिकार करते तो गलत करते। अर्थात्, अहिंसा के लिए सामूहिक, बिना शर्त आत्महत्या– यही व्यवहार में अहिंसा का गांधीवादी सिद्धांत था।

निस्संदेह, अहिंसा के बारे में गांधी की पूरी धारणा भारतीय धर्म–चिंतन के नितांत विपरीत थी। जो ठीक किसी संत और सन्यासी के व्यक्तिगत व्यवहार के लिए सही हो सकती है, उसे पूरे समाज के सामाजिक, राजनीतिक व्यवहार के लिए लागू मान लेना एक भयंकर भूल और एकदम भ्रामक जिद थी। वह विपरीत परिणाम देने वाला होता है। इस बिंदु पर श्रीअरविन्द के शब्दों का स्मरण करें,

> "यदि अहिंसा का गुण क्षत्रिय में आ जाए, यदि तुम कहो कि मैं मारुँगा नहीं, तो देश को बचाने वाला कोई नहीं रहेगा। वही गुण दुःख का स्त्रोत बन जाएगा और लोगों में दुःख और द्वंद्व लाने में तुम साधन बन जाओगे।"

यह बात अपने एक भाषण में श्रीअरविन्द में 25 जून, 1909 को खुलना (अब बंगलादेश) में कहीं थी। उसके ठीक अड़तीस वर्ष बाद क्या पूर्वी बंगाल और पश्चिमी पंजाब के हिंदुओं का वही नहीं हुआ? स्थिति को उन लाखों हिन्दुओं–सिखों की दृष्टि से देखने का यत्न करें जो भारत विभाजन के फलस्वरूप मारे गए, बेघर और शरणार्थी हुए। तब हम श्रीअरविन्द की बात को गांधी की अहिंसा के संदर्भ में समझ सकते हैं। अहिंसा की गांधीवादी धारणा को समाज और राजनीति पर लागू करना आततायियों का राज स्वीकार करने से तनिक भी भिन्न नहीं है।

यहाँ तक कि हिन्द स्वराज में गांधी ने अहिंसा के संबंध में विभिन्न धर्मों की स्थिति, अंग्रेजों को भगाने के लिए हिंसा अथवा अहिंसा के प्रयोग के बारे में भारतीय जनता की इच्छा आदि के बारे में भी जो बातें कहीं हैं, वह सही नहीं हैं। कई स्थलों पर गांधी अंतर्विरोधी बातें भी कहते हैं। जैसे, हिन्द स्वराज में इसका उल्लेख है कि भारत में हिन्दू–मुस्लिम बैर रहा है, उन में लड़ाइयाँ होती रही हैं जिसका अंग्रेजों ने उपयोग किया। किंतु 1931 में लंदन में गोल–मेज कांफ्रेंस में गांधी ने स्पष्ट कहा कि भारत में अंग्रेजों के आने से पहले कोई हिन्दू–मुस्लिम झगड़ा नहीं था। इस की उत्पत्ति अंग्रेजों के आगमन के बाद हुई। इसी प्रकार, भारतीय जनता दुष्टों, आतताइयों, अत्याचारियों को हथियार उठाकर दंडित करना नहीं चाहेगी– हिन्द स्वराज में लिखी यह बात गलत है। पूरे भारत में, आम तौर पर लोग पापियों, बदमाशों को बलपूर्वक दंडित करने की अनुशंसा करते हैं। बल्कि जब, जहाँ अवसर मिला स्वयं यह करने से नहीं चूकते।

अतः हिन्दस्वराज का मूल्यांकन करते हुए इस की गंभीर कमी को भुला नहीं देना चाहिए। यह दुर्भाग्य की बात है कि स्वतंत्र भारत में नेहरूपंथी सत्ता की वैचारिक नीति और उच्च–वर्गीय हिंदुओं की भीरुता जैसे कारणों से गांधीवाद का संपूर्ण मूल्यांकन प्रायः बाधित ही रहा। इस में गांधी–नेहरू युग्म बन जाने से और बड़ी बाधा हो गई। नेहरू परिवार का सत्ता पर लगभग निरंतर, अतुलनीय प्रभाव भी इसकी गारंटी करता रहा कि गांधी–नेहरू के बारे में अहर्निश प्रशंसा, दिन–रात उनके नामों का देवत्वपूर्ण प्रयोग ही देश के हिस्से आएगा। इसीलिए, हिन्द स्वराज की जो गंभीर आलोचनाएं उसके प्रकाशित होने के समय और उसके बाद दो–तीन दशक तक देश–विदेश में होती रही थीं, आज हमें उसके बारे में भी कुछ पता नहीं है! वह कितनी सधी आलोचनाएं थीं, इसका संकेत स्वयं हिन्द स्वराज में महादेव भाई की बाद में लिखी विस्तृत भूमिका से भी मिल जाता है। पर उन बिंदुओं को आज शायद ही कोई उठाता है।

विचार–विमर्श की यह सोचनीय स्थिति 1920–80 से बीच स्थापित सोवियत संघ वाली वैचारिकता की झलक देती है। जब लेनिन या लेनिनवाद के बारे में केवल प्रशंसा और गुण–गान को ही वैचारिक, अकादमिक लेखन माना जाता था। स्वतंत्र भारत में गांधी और नेहरू की विरासत के बारे में विमर्श की स्थिति उससे अधिक भिन्न नहीं रही है। इसीलिए नेहरूवादी हों या गांधीवादी, विभिन्न विद्वान, नेता और एक्टिविस्ट हिन्द स्वराज और अहिंसा की महानता के शब्दिक पुल ही बांधते रहते हैं। हमारे एक भी गांधीवादी किसी वास्तविक जिहादी, आतंकवादी, माओवादी या अपराधी से वास्तव में वह दलीलें करने नहीं जाते जो करने की तजवीज बड़े विश्वास से हिन्द स्वराज में व्यवहारिक उपाय के रूप में रखी गई हैं कि उस "आदमी के भीतर से चोरी का बीज ही निकाल दें"। यह सबसे बड़ी विडंबना है कि अपने जिस विचार को गांधी ने अक्सीर की तरह जीवन भर दुहराया, उसे न वह स्वयं कभी किसी वास्तविक 'आदमी' के साथ सफल प्रयोग कर दिखा सके, न कभी उनके आज के किसी प्रशंसक या अनुयायी को यह सूझता है कि किसी नक्सली या मुजाहिद के "भीतर से वह बीज निकाल देने" की सोचें!

●●●●

IV/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास,
श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110016

भारतीयता का प्रकाशदीप

प्रभाष जोशी

प्रस्तुत आलेख हिंद स्वराज पर प्रभाष जोशी द्वारा दिये गये भाषण का लेखारूपांतरण है। यह भाषण इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यही उनके जीवन का अंतिम भाषण है। लखनऊ में दिए गए इस भाषण के दो दिन बाद वो इस दुनिया को छोड़ गए। 'भारतीय पक्ष' के संपादक 'श्री विमल कुमार सिंह' के सौजन्य से प्रस्तुत है, उनके अंतिम भाषण के प्रमुख अंश-

कार्तिक में दीया जलाने की जो परंपरा है, अपने पुरखों, अपने देवों के लिए जलाया जाने वाला दीया है। मित्रों यह नवंबर का महीना है। खासकर 2009 के नवंबर का। यह राष्ट्रीय, वैचारिक और धार्मिकता का महीना है। इसी महीने की 13 से 22 तारीख तक 100 साल पहले एक जहाज पर महात्मा गांधी ने अपने पुरखों के नाम आकाश में एक दीया जलाया था। उस दीप का नाम हिंद स्वराज है। क्योंकि वह भारतीयता के प्रकाश का ऐसा दीप है जो इतिहास–पुराण सब चीजों के निचोड़ अपने अपने अंदर समाहित किये हुए है। इसलिए जब हमारे यहाँ वर्ष प्रतिपदा शुरु होती हैं और शारदीय नवरात्र आता है तो हम नौ दिन तक नवाह्न पाठ करते हैं। रामचरित मानस का पाठ करते हैं। अगर आप अपना राष्ट्रीय कर्तव्य मानकर 13 से 22 नवम्बर तक महात्मा गाँधी के हिंद स्वराज का दस–दस पेज रोज पढ़िये तो दस दिन में उसका पढ़ना पूरा हो जाएगा। जिस दिन आप ऐसा करेंगे उस दिन एक आकाश दीप महात्मा गांधी के नाम इस देश के ऊपर रख देंगे। यह हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य है। एडमस्मिथ के कारण दुनियाँ में पूँजीवाद चल रहा है। कार्लमार्क्स के कारण दुनियाँ में जगह–जगह मार्क्सवाद चल रहा है। लेकिन अगले बीस साल में कोई वाद अगर चलने वाला है तो वह गांधी जी के हिंद स्वराज से निकलता है। इसलिए आज मैं यहां से खड़े होकर आपको कह रहा हूं। इसलिए नहीं कि वे हमारे राष्ट्रपिता हैं, बल्कि इसलिए कि बीस साल में जब इस पृथ्वी का तापमान तीन डिग्री और बढ़ जाएगा, उस दिन आपकी ये गंगा नदी नहीं रहने वाली है। क्योंकि जिस तेजी से हम दुनिया का तापमान बढ़ा रहे हैं उससे इस सभ्यता का विनाश होना अवश्यंभावी है। इसलिए उस महात्मा गांधी को याद करिए जिसने 100 साल पहले कहा था कि ये शैतानी सभ्यता है और ये सभ्यता एक दिन अपने को कष्ट करेगी। आज दुनियाभर के वैज्ञानिकों की, दुनियाभर के सोचने–समझने वाले लोगों की सबसे बड़ी चिंता का कारण यह है कि हमारी पृथ्वी जैसी है वैसी रह सकेगी या नहीं। और अगर वह नहीं रह सकेगी तो यह सभ्यता भी नहीं रह सकेगी।

जैसे सरस्वती नदी बिला गई वैसे ही हमारी बुद्धि भी बिला गई है। क्योंकि हम ये देख नहीं पाते हैं कि मोहनजोदड़ो हड़प्पा जो कि सारी संस्कृतियों के पहले की संस्कृति थी वो कैसे नष्ट हुई। वे संस्कृतियां किसी युद्ध में नष्ट नहीं हुई थी। ऐसा नहीं है कि बाहर से आक्रमणकारी आए, आर्य आए, फलां आए और उस संस्कृति को नष्ट कर दिया। ऐसा कोई प्रमाण आज तक दुनिया में किसी को नहीं मिला है। प्रमाण ये मिले हैं कि मोहनजोदड़ों और हड़प्पा की सभ्यताएं पर्यावरण के कारण अपने आप नष्ट होती गई और हमारे लोग मोहनजोदड़ों और हड़प्पा को छोड़कर पूरब की तरफ और दक्षिण की तरफ आए। ये इसलिए हुआ कि हमने पहली बार ईट बनाना सीखा था। ईंट बनाने के लिए मिट्टी के लोंदे को लकड़ी भरकर उसको आग से जलाकर पकाना होता है। ईंट बनाने के बाद हमने नालियां बनानी चालू की और नालियां बनाने के बाद हमने शहर बनाए और अपनी नदियों से अपनी सुरक्षा के लिए ईटों की व्यवस्था की। ये करते–करते हमने अपने जंगलों को बर्बाद कर दिया।

मित्रों, माहेनजोदड़ों का मतलब सिंधी भाषा में होता है लाशों का टीला। गुजरात का एक बंदरगाह है उसका नाम है लोथल। लोथ का मतलब गुजराती में लाश होता है। लोथल का मतलब वही है जो मोहनजोदड़ों का।

तो एक लाशों का टीला सिंध के उपर और जहां–जहां उस संस्कृति की चीजें मिलती हैं आप देखेगें कि वे लाशों के टीले हैं, क्योंकि वे कोई युद्व में, कोई किसी डिजास्टर से नष्ट नहीं हुए हैं। हमारे द्वारा ही प्रकृति को नष्ट करने के कारण हुए है। इसलिए जो लोग ये समझते है कि वायुमंडल के गरम होने का और दुनिया के डूबने की जो कहानियां हैं, ये गप्प हैं और यूं ही डर फैलाने के लिए की जाती हैं, वे जरा अपनी मोहनजोदड़ों, हड़प्पा की संस्कृति को देखें और सरस्वती नदी को याद करें जिसके किनारे बैठकर हमारे सबसे बड़े ऋषियों ने, सबसे बड़े मनीषियों ने वेदों की रचना की। वेदों में सिर्फ सरस्वती नदी का जिक्र है। उसमें आपकों गंगा और यमुना का वर्णन नहीं मिलेगा। क्योंकि वे सरस्वती के किनारे के ऋषि लोग थे।

गांधी जी ने जो हिंद स्वराज लिखा वे अंग्रेजों के शिकंजे से इस देश को आजाद कराकर स्वराज देने के लिए लिखा था। आज आपको और मुझको ऐसा हिंद स्वराज लिखना है जिसमें हम अपने ही देश के दस फीसदी लोगों के शिकंजे से ९० फीसदी लोगों को आजाद करा सकें।

अब अगर हमने अपनी एक महानदी और अपनी सरस्वती नष्ट की है तो इसमें कोई संदेह नही कि अगर पृथ्वी का तापमान इसी तरह बढ़ता रहा तो आज जिस सभ्यता को लेकर हम नाच–कूद रहे हैं वो भी उसी प्रकार से नष्ट होगी जिस तरह से हड़प्पा और मोहनजोदड़ों नष्ट हुए। इसलिए महात्मा गांधी ने हिंद स्वराज में 1909 में कहा था कि ये असीमित उपभोगपर आधारित सभ्यता है और ये एक दिन अपने को नष्ट करेगी। इसलिए मैं इसको शैतानी सभ्यता कहता हूं। और आज 100 साल बाद आप देख रहे हैं कि वे खतरा आपके सामने खड़ा है। अब आप ये मत मानिए कि महात्मा गांधी पश्चिम के लोगों की सभ्यता के खिलाफ थे। वो दर असल मानते थे कि भारत की सभ्यता ज्यादा बड़ी है।

मित्रों, महात्मा गांधी इस तरह के विमर्श में पड़ने वाले आदमी नहीं थे। वे बौद्विकता को विलासिता मानते थे। गांधी कहते थे कि उस विचार का कोई काम नहीं जिसको आप जीवन मे न उतार सकें। उन्होंने साफ–साफ लिखा है कि मेरे लिखे हुए सारे साहित्य को मेरे शरीर के साथ जला देना। क्योंकि मैंने जो लिखा है और मैंने जो बोला है वो नहीं टिकेगा। मैंने जो किया है वही टिकने वाला है। यानि महात्मा गांधी के लिए आचरण सबसे बड़ी चीज है।

उन्होंने हिंद स्वराज कोई विमर्श करने के लिए नहीं लिखी है। उन्होंने हिंद स्वराज इसलिए भी नहीं लिखी है कि वे भारत की सभ्यता को पश्चिम की सभ्यता–संस्कृति से बेहतर करना चाहते थे। महात्मा गांधी इस तरह के बौद्धिक युद्व में पड़ने वाले आदमी नहीं थे। तो मित्रों, सभ्यता का झगड़ा तय करने वाले महात्मा गांधी नहीं थे। उनकी चिंता ये थी कि सभ्यता आदमी को लगातार गुलाम बनाती जा रही है। क्योंकि आप जितना भी दूसरी चीजों पर निर्भर रहेंगे उतना ही गुलाम होते जाएंगे। महात्मा गांधी की चिंता इस देश में स्वराज लाने की थी। और स्वराज को वे मात्र राजनैतिक स्वतंत्रता नहीं मानते थें। बल्कि हिंद स्वराज उन लोगों के खिलाफ लिखी गई है जो हिंसा और औद्योगिक सभ्यता से इस देश का विकास करना चाहते थे। उन लोगों का मानना था कि पश्चिम के ढंग के औद्योगीकरण, अंग्रेजी के विकास और पश्चिमी विधाओं से ही भारत को समृद्ध किया जा सकता है। हम पहले रूस के रास्ते पर चले और पिछले 18 साल से अमेरिका के रास्ते पर चल रहे हैं। इसलिए मित्रों, इस साल मैं घूम–घूमकर कह रहा हूँ कि आज दूसरा हिंद स्वराज लिखने की जरूरत है। दूसरा हिंद स्वराज इसलिए लिखने की जरूरत है क्योंकि गांधी जी ने जो हिंद स्वराज लिखा वे अंग्रेजों के शिकंजे से इस देश को आजाद कराकर स्वराज देने के लिए लिखा था। आज आपको और मुझको ऐसा हिंद स्वराज लिखना है जिसमें हम अपने ही देश के दस फीसदी लोगों के शिकंजे से 90 फीसदी लोगों को आजाद करा सकें।

और ये लड़ाई मित्रों, महात्मा गांधी की अंग्रेजों से जो लड़ाई थी उससे कहीं बड़ी लड़ाई है। क्योंकि इसमें हमें अपने से ही लड़ना है। वे अपने जो हमारे देश के आर्थिक विकास का लाभ गलत तरीके उठा रहे हैं। इसमें बाप को बेटे से लड़ना है। इसमें भाई को भाई से लड़ना है और उनको ये बताना है कि तुम जिस प्रकार से इस देश को पश्चिमी सभ्यता के औद्योगिक तरीके से चलाना चाहते हो उसमें तो ये देश कभी भी आजाद नहीं होगा। इसलिए आज से तुमसे मेरी लड़ाई है। जिस तरह 1947 में महात्मा गांधी की पं. नेहरू और सरदार पटेल की सरकार से लड़ाई थी। क्योंकि जब तक वो आखिरी आदमी जिसके लिए इस देश की आजादी की लड़ाई लड़ी गई वो जब तक अपनी जरूरत के अनुसार पूरा प्राप्त नहीं करता तब तक हम खाने–पीने वाले सब लोग जैसा कि महात्मा गांधी ने कहा था– 'चोरी कर रहे हैं। हम उनके संसाधनों की चोरी करके अपना रहे हैं और अपने धंधे बाहर ले जा रहे हैं और न करोड़पति हो रहे हैं।'

मित्रों, जब तक यह व्यवस्था रहेगी आप अपना सर्वश्रेष्ठ आदमी भी चुनकर दिल्ली भेंजेगे तो वह वही खिरपिट करने लगेगा जो अब तक सारी की सारी परंपरा से लोग करते आ रहे हैं। वह कुछ सकारात्मक नहीं कर पाएगा।

●●●●

पुस्तक अंश

महामना मालवीयजी और उनकी अमर कृति

एस. सोमस्कन्दन्*

"उन्होंने निश्चय किया कि इस महान् भारतदेश को पुनः एक सूत्र में बाँधने के लिए भारत की सांस्कृतिक राजधानी काशी में प्राचीन भारत के गुरूकुलों के सदृश एक विश्वविद्यालय की स्थापना करनी चाहिए जिसमें प्राचीन भारतीय विद्याओं की शिक्षा के साथ-साथ , भारतीय भाषा के माध्यम से आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा भी दी जाय।"

कांग्रेस वार्षिक अधिवेशन प्रतिवर्ष दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में होता था। मालवीयजी सभी अधिवेशनों में सम्मिलित होते थे। विशाल भारतवर्ष के भिन्न–भिन्न प्रान्तों को उन्होंने अच्छी तरह देखा। प्राचीन भारत के गौरवशाली इतिहास का उन्होंने पूर्ण निष्ठा के साथ अध्ययन किया था। श्रीमद्भागवत् में वर्णित सांदीपनि मुनि का गुरूकुल और उसमें शिक्षा ग्रहण कर रहें श्रीकृष्ण और सुदामा का अपूर्व चित्र सदा उनके सामने आ जाता था। गुरूकुलों में किस तरह के वातावरण में विधार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे, गुरू और शिष्य के बीच कैसा सुन्दर सम्बन्ध था , शिष्यों के बीच परस्पर कैसा शुद्व प्रेम था , इन सबका स्मरण कर वे आनन्द में डूब जाते थे।

उन्होंने निश्चय किया कि इस महान् भारतदेश को पुनः एक सूत्र में बॉधने के लिए भारत की सांस्कृतिक राजधानी काशी में प्राचीन भारत के गुरूकुलों के सदृश एक विश्वविद्यालय की स्थापना करनी चाहिए जिसमें प्राचीन भारतीय विधाओं की शिक्षा के साथ–साथ , भारतीय भाषा के माध्यम से आधुनिक ज्ञान–विज्ञान की शिक्षा भी दी जाय।

सन् 1904 ई. में काशी में तत्कालीन काशीनरेश प्रभुनारायण सिंह की अध्यक्षता में मिण्ट हाउस में आयोजित एक सभा में मालवीयजी ने काशी विश्वविद्यालय की अपनी योजना को विद्वानों के सम्मुख रखा। काशीनरेश सहित उपस्थित सभी लोगों ने प्रस्तावित विश्वविद्यालय का स्वागत करते हुए मालवीयजी को प्रोत्साहित किया। शीघ्र ही मालवीयजी ने भावी विश्वविधालय का विवरणपत्र तैयार कर लिया और उन्होंने उसकी मुद्रित प्रति भारत के सभी गणमान्य सज्जनों को विचारार्थ अक्टूबर 1905 में डाक द्वारा भेज दी।

दिसम्बर 1905 के अन्तिम सप्ताह में कांग्रेस का इक्कीसवाँ वार्षिक अधिवेशन काशी में होनेवाला था। इस अधिवेशन के लिए श्रीगोपालकृष्ण गोखले अध्यक्ष चुने गये थे। कांग्रेस का यह अधिवेशन अत्यन्त महत्वपूर्ण था , कारण था बंगाल का विभाजन। लार्ड कर्जन ने जो सन् 1899 से भारत के वाइसराय थे 1905 के प्रारम्भ में बंग–विभाजन की योजना बनायी । आम जनता की भावनाओं को इससे बहुत ठेस पहुँची। इस योजना का पूरे देश में विशेषकर बंगाल में जोरदार विरोध हुआ। परन्तु 20 जुलाई 1905 को लार्ड कर्जन ने विभाजन की घोषणा कर दी। दिसम्बर 1905 में आयोजित कांग्रेस के अधिवेशन में यही मुख्य विचाराधीन विषय था। अतः विभिन्न प्रान्तों के सभी जाने–माने कांग्रेस के सदस्य इस अधिवेशन में सम्मिलित हुए।

इस कांग्रेस की स्वागत समिति में मालवीयजी भी एक सदस्य थे। समिति के अध्यक्ष काशी के एक प्रसिद्वनागरिक राजा मुंशी माधो लाल थे , परन्तु मालवीयजी ने समिति का सारा कार्यभार अपने उपर ले रखा था।

इस शुभ अवसर का लाभ उठाते हुए मालवीयजी ने 31 दिसम्बर 1905 को वाराणसी के टाउनहाल में एक सभा को आयोजित किया। कांग्रेस अधिवेशन के लिए आये हुए सभी प्रमुख लोग इस सभा में सम्मिलित हुए। श्री बी.एन्. महाजन की अध्यक्षता में सभा हुई। मालवीयजी द्वारा बनाया गया प्रस्तावित विश्वविद्यालय का विववरण–पत्र (First Prospectus), उपस्थित सभी सज्जनों को दो महीने पूर्व ही मिल गया था। उसी विवरण–पत्र के आधार पर सभा में चर्चा हुई। मालवीयजी ने विवरण–पत्र में उल्लिखित विषयों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि भारत के प्राचीन धर्म की शिक्षा है कि प्रत्येक मनुष्य अपने को एक बड़ी समष्टि की इकाई समझ कर उसके हित के लिए जीवित रहे और काम करे, लोक कल्याण तथा लोक संग्रह को परम पुरूषार्थ

समझे। धर्म निर्धारित करता है कि लौकिक और पारलौकिक सिद्धि, दोनों के लिए प्रयत्न करना मानव का कर्तव्य है। हमारे ऋषियों द्वारा प्रतिपादित नैतिकता में उन सब गुणों का समावेश है जो मानव समाज के अस्तित्व और मैत्रीपूर्ण सहयोग के लिए आवश्यक है। लौकिक अभ्युदय के लिए आधुनिक ज्ञान–विज्ञान के अध्ययन ओर प्रयोग भी अत्यन्त आवश्यक हैं, उनकी समुचित शिक्षा होनी चाहिए। देश में विज्ञान का व्यापक प्रसार और प्रयोग होना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब आधुनिक ज्ञान–विज्ञान की शिक्षा भारतीय भाषाओं के माध्यम से ही हो।

> "मालवीयजी जैसे चरित्रवान्, विद्वान् तपस्वी देशभक्त को भिक्षा कौन नहीं देता? विशेषकर जब वह भिक्षा, देश की जनता के लिए ही एक विश्वविद्यालय की स्थापना के निमित्त माँग रहे थे।"

सभा में उपस्थित सभी सज्जनों ने मालवीयजी के प्रयास की सराहना करते हुए उनको अपना परिपूर्ण समर्थन दिया। पायनियर (Pioneer) समाचार पत्र ने प्रस्तावित विश्वविद्यालय के समर्थन में एक अग्रलेख लिखा। इण्डियन रिव्यू' (Indian Review) में भी प्रस्तावित विश्वविद्यालय की योजना को महत्वपूर्ण, देश–भक्तिपूर्ण और प्रेरणाप्रद बताते हुए एक सुन्दर लेख प्रकाशित हुआ। सर्वत्र मालवीयजी की प्रशंसा हुई।

परन्तु बंग–विभाजन के कारण देश का वातावरण पूर्णरूपेण अशान्त हो गया था। अतः मालवीयजी की योजना को तुरन्त कार्यान्वित करना सम्भव नहीं हो सका। उपर्युक्त समय की प्रतीक्षा करते हुए मालवीयजी अपनी योजना के सम्बन्ध में सुप्रसिद्धविद्वानों और वैज्ञानिकों से विचार–विमर्श कर रहे थे। कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों में भी भारत के गणमान्य शिक्षाविदों से इस सम्बन्ध में विस्तृत वार्तालाप करने का सुअवसर उन्हें मिल जाता रहा।

कांग्रेस का 24वॉ वार्षिक अधिवेशन लाहौर में दिसम्बर 1909 के अन्त में होने वाला था। इस अधिवेशन की अध्यक्षता के लिए मालवीयजी चुने गये। सन् 1909 में ब्रिटिश पार्लमेंट ने इण्डियन कौसिंल एक्ट पास किया और इसके अधीन अधिनियम रेगूलेशन बनाये गये। मार्ले–मिन्टो –सुधारों के नाम से प्रसिद्ध इस व्यवस्था में केन्द्रीय और प्रान्तीय लेजिस्लेटिव कौंसिल विधान–परिषदों में गैर–सरकारी अतिरिक्त सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गयी। कौंसिलों के अधिकार भी विस्तृत कर दिये गये। निर्वाचित स्थानों में से अधिकांश को साम्प्रदायिक और आर्थिक हितों के आधार पर बाँट दिया गया। मुसलमानों को प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा पृथक प्रतिनिधित्व दे दिया गया और उन्हें सामान्य स्थानों में भी चुनाव का अधिकार दिया गया। मताधिकार किसी व्यापक सिद्धान्त पर आधारित नहीं था। कांग्रेस के उपर्युक्त अधिवेशन में 'मार्ले–मिन्टो सुधार' व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार–विमर्श करना ही मुख्य विषय था। अपने सारगर्भित अध्यक्षीय भाषण में मालवीयजी ने नयी सुधार व्यवस्था की कड़ी आलोचना की। "सम्प्रदाय और सम्पत्ति पर आधारित निर्वाचन पद्धति"का विरोध करते हुए उन्होंने कहा कि प्रान्तीय कौंसिल की सदस्यता के लिए निर्वाचन, सदस्य की योग्यता पर होना चाहिए। शास्त्रों में विद्या सबसे उँची योग्यता मानी गयी है और धन का स्वामित्व सबसे नीची जब कि नये अधिनियमों में विद्या को, योग्यता की श्रेणी से निकाल ही दिया गया है। मध्यवर्गीय शिक्षित वर्ग के साथ यह एक अन्याय है।

मालवीयजी ने अपने भाषण में स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिया कि सरकार का रूख एक वर्ग के प्रति पक्षपातपूर्ण और अन्यों के प्रति अन्यायपूर्ण है। नयी सुधार व्यवस्था की निन्दा करते हुए कांग्रेस के अधिवेशन में सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया। अन्य मुख्य विषयों पर भी प्रस्ताव पारित करने के बाद अधिवेशन का समापन हुआ।

इतनी व्यस्तता के मध्य में भी मालवीयजी का ध्यान काशी में प्रस्तावित विश्वविद्यालय–योजना की ओर से क्षणभर भी हटा नहीं। अपनी योजना को कार्यान्वित करने के लिए वे उपयुक्त समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। केन्द्रीय विधान कौसिंल के सदस्य की हैसियत से उन्हें ज्ञात हुआ कि देश की राजनीतिक स्थिति शीघ्र ही सामान्य हो जायेगी। उन्होंने निश्चय किया कि कांग्रेस के अध्यक्ष पद के भार से मुक्त होते ही विश्वविद्यालय के काम में पूर्णतः लग जाना चाहिए। इस निश्चय पर पहुँचते ही एक शुभ मुहूर्त में उन्होंने त्रिवेणी के पवित्र तट पर दृढ़ता पूर्वक विधिवत् संकल्प किया कि वे काशी विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए एवं देश सेवा के लिए अपना जीवन समर्पित कर देंगे। कांग्रेस का अगला अधिवेशन इलाहाबाद में दिसम्बर 1910 के अन्त में होने वाला था। तीसरी बार इलाहाबाद को कांग्रेस का आतिथेय करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। कांग्रेस अपने अस्तित्व का पच्चीसवाँ वर्ष पूरा कर रहा था। अतः मालवीयजी ने निश्चय किया कि इस अधिवेशन को रजत जयन्ती के ढंग पर मनाना चाहिए। अधिवेशन के लिए सारा प्रबन्ध बड़े पैमाने पर किया गया। लगभग चार हजार प्रतिनिधि और अतिथिगण इस अधिवेशन में भाग लेने के लिए प्रयाग आने

वाले थे। इस हेतु इलाहाबाद के ऐतिहासिक किले के समीप एक विशाल पण्डाल का निर्माण हुआ। इस पण्डाल में पच्चीस द्वार थे जिनके उपर गत अधिवेशनों के अध्यक्षों के अलंकृत चित्र सुशोभित हो रहे थे। सर विलियम वेडर्नबर्न इस अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये थे। सुन्दरलालजी स्वागत समिति के अध्यक्ष थे , मोतीलाल नेहरू उपाध्यक्ष। अधिवेशन को सफल बनाने के लिए सभी प्रयास जोरदार ढ़ंग से चल रहे थे। परन्तु इसी बीच मालवीयजी के लिए एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना हो गयी। 9 नवम्बर1910 को उनके पिताजी का निधन हो गया। नवम्बर के अन्त तक वे प्रबन्ध कार्य में भाग नहीं ले सके।

कांग्रेस का यह अधिवेशन अत्यन्त महत्वपूर्ण था। दिसम्बर 1910 के अन्तिम सप्ताह में पूरा शहर महोत्सवमय हो गया था। अधिवेशन अपेक्षा से अधिक ही सफल रहा। अधिवेशन के समाप्त होते ही मालवीयजी त्रिवेणी तट पर किये गये संकल्प को पूर्ण करने के लिए उद्यत हो गये। उन्होंने विश्वविद्यालय की अपनी संशोधित योजना को छपवाकर उसे जुलाई 1911 में प्रकाशित कर दिया। संशोधित योजना की प्रति, उन्होंने अपने व्यक्तिगत पत्र के साथ उन सभी सज्जनों को भेज दिया जिन्हें सन् 1905 में प्रथम विवरण पत्र (First Prospectus) भेजा गया था। इसीके साथ उन्होंने 15 जुलाई सन् 1911 को जनता के नाम एक अपील भी जारी कर दी जिसमें उन्होंने जनता से एक करोड़ रूपये की मांग की और भारत के सभी लोगों से अनुरोध किया कि काशी विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए यथाशक्ति दान दें। उन्होंने वकालत त्याग दी और भिक्षापात्र लेकर वे निकल गये जनता से भिक्षा मॉगने।

मालवीयजी के पूज्य तपस्वी पिताजी ने कुछ वर्ष पूर्व ही काशी में विश्वनाथजी को चढ़ा कर 101 रूपये उन्हें विश्वविद्यालय के लिए विश्वनाथ के प्रसाद के रूप में दिया था। मालवीयजी के ध्यान में यह बात आ गयी कि काशी में अन्नपूर्णाजी के मन्दिर में विश्वनाथजी जगन्माता अन्नपूर्णा जी के पार्श्व में खड़े, हाथ में भिक्षापात्र लिये उनसे भिक्षा मॉग रहे हैं। पिताजी से 101 रूपये विश्वनाथजी के प्रसाद के रूप में मिलते ही मालवीयजी को प्रेरणा मिल गयी कि जनता रूपी माता से भिक्षा मॉगने से ही भिक्षापात्र अक्षयपात्र बना रहेगा। मालवीयजी जैसे चरित्रवान्, विद्वान् तपस्वी देशभक्त को भिक्षा कौन नहीं देता? विशेषकर जब वह भिक्षा, देश की जनता के लिए ही एक विश्वविद्यालय की स्थापना के निमित्त मॉग रहे थे।

यहाँ श्रीमती एनी बेसंट और उनके द्वारा सन् 1898 में काशी मे स्थापित सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज का उल्लेख आवश्यक है। सात–आठ वर्षों के अन्दर ही सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की ख्याति सम्पूर्ण भारतवर्ष में फैल गयी। अनेक त्यागी विद्वान् देशभक्त, केवल भारतीय ही नहीं, अंगरेज भी, सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में निःस्वार्थ सेवा कर रहे थे।

धीरे–धीरे श्रीमती एनी बेसंट के मन में यह विचार पनपने लगा कि काशी में भारत का एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय होना चाहिए जिसमें सभी भारतवासियों का सहयोग हो। इस उददेश्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने देश के विभिन्न वर्गो के लोगों से सम्पर्क स्थापित किया। उनकी भावनाओं का स्वागत करते हुए सभी मतावलम्बियों ने उनसे सहयोग करने का वचन दिया। तदुपरान्त श्रीमती एनी बेसंट ने 'यूनिवर्सिटी ऑफ इण्डिया' के नाम से काशी में एक विश्वविद्यालय स्थापित करने के लिए, उस विश्वविद्यालय के स्वरूप, उद्देश्य, अधिकार, प्रबन्ध सम्बन्धी नियमावली आदि विधिवत् तैयार किया। इस विश्वविद्यालय के संचालन के लिए प्रस्तावित प्रथम न्यास मण्डल (Board of Trustees) में उन्होंने भारत के गणमान्य, सुप्रसिद्वएवं प्रबुद्वसज्जनों को रखा। न्यासियों की कुल संख्या अठारह थी, जिसमें थे–एक थिऑसफिस्ट (ब्रहाविद्यावादी), नौ हिन्दू, तीन मुस्लिम, दो पारसी, एक सिख, एक बौद्वऔर एक जैन। सभी सम्बद्वसज्जनों की सम्मति उन्होंने ले ली थी।

श्रीमती बेसंट ने सोचा कि इस विश्वविद्यालय की योजना को कार्यान्वित करने के लिए ब्रिटिश सरकार से आज्ञापत्र प्राप्त करना आवश्यक होगा। अतः उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य के अधिपति सम्राट पंचम जार्ज को भेजने के लिए एक आवेदन पत्र तैयार किया और उसे आज्ञापत्र के प्रारूप सहित भारत के वाइसराय महोदय को भेजा। सितम्बर 1910 में वाइसराय ने उसे ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के भारत–मंत्री को अग्रसारित कर दिया। फाइल लन्दन और दिल्ली के बीच घूम रही थी।

इधर भारत में एक दूसरा चित्र उभर रहा था। अलीगढ़ में सन् 1875 में सर अहमद खॉ द्वारा स्थापित मोहेम्मडन एन्ग्लों वर्नाकुलर कालेज के प्रबन्धक लोग सन् 1898–1899 से ही उस कालेज को केन्द्र मानकर एक मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे। सन् 1911 के प्रारम्भ में आगा खॉ के नेतृत्व में मुसलमानों के एक डेपुटेशन ने भारत सरकार के अधिकारियों से मिलकर, अलीगढ़ में मुस्लिम यूनिवर्सिटी के लिए चार्टर (आज्ञापत्र) प्रदान करने की प्रार्थना की। सरकार के आश्वासन से उन्हें अपेक्षित प्रोत्साहन मिला। इसका परिणाम यह हुआ कि जो तीन मुस्लिम सज्जन श्रीमती बेसंट की योजना में सहयोग कर रहे थे, उन तीनों ने उनको सूचित कर दिया कि वे उनकी योजना में सम्मिलित नहीं हो सकेंगे। तब श्रीमती बेसंट को अपनी योजना में कुछ आवश्यक संशोधन करना पड़ा। संशोधित योजना में उन्होंने विश्वविद्यालय का नाम 'यूनिवर्सिटी ऑफ इण्डिया' से बदल कर 'यूनिवर्सिटी ऑफ बनारस' और हिन्दी में 'काशी विश्वविद्यालय' रखा।

मार्च 1911 में मालवीयजी और श्रीमती बेसंट की एक बैठक कलकत्ते में हुई। 'काशी विश्वविद्यालय' के संबंध में विस्तृत चर्चा हुई और दोनों ने इस विश्वविद्यालय के लिए मिलकर कार्य करने का निश्चय किया। अन्य प्रमुख सज्जनों से भी इस विषय में परामर्श करना आवश्यक समझा गया। अतः इलाहाबाद में 8 अप्रैल 1911 को एक गोष्ठी आयोजित हुई। गोष्ठी में विश्वविद्यालय की स्थापना के सम्बन्ध में सभी आवश्यक विषयों पर विचार–विमर्श

हुआ। अन्त में निर्णय हुआ कि श्रीमती बेसेंट द्वारा ब्रिटिश सम्राट् पंचम जार्ज को भेजे गये आवदेन पत्र को संशोधित कर लिया जाय और उसी के आधार पर आगे की कार्यवाही की जाय। गोष्ठी में विनिश्चित सभी संशोधनों को तुरन्त लिपिबद्ध करा लिया गया और श्रीमती बेसंट ने 11 अप्रैल 1911 को एक परिपत्र द्वारा सभी सम्बद्वलोंगो को इन संशोधनों से अवगत करा दिया। दैनिक समाचार पत्र और साप्ताहिक पत्रों में भी इस परिपत्र को प्रकाशित करा दिया गया।

श्रीमती एनी बेसंट 22 अप्रैल 1911 को बम्बई से समुद्री जहाज द्वारा इंगलैंड के लिए रवाना हो गयीं। वहाँ लगभग पाँच महीने रहकर ब्रिटिश सरकार से आज्ञापत्र (Charter) लेने के लिए प्रयत्नशील थीं।

परन्तु उनके सारे प्रयास विफल हो गये। निराश होकर इगलैंड से चलीं और 21 अक्टूबर 1911 को वे काशी पहुँच गयीं। श्रीमती बेसंट के प्रवासकाल में भारत में मालवीयजी चुप नहीं बैठे थे। जुलाई 1911 के प्रारम्भ में उन्होंने काशी विश्वविद्यालय की अपनी संशोधित योजना को प्रकाशित कर दिया, 15 जुलाई को जनता के नाम एक अपील जारी कर दी , भारत की जनता से एक करोड़ रूपये की माँग की और विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए धन संग्रह का कार्य भी प्रारम्भ हो गया।

एक और महत्वपूर्ण कार्य भी उन्होंने किया। काशी में कुछ वर्ष पूर्व से ही कुछ संस्कृत के विद्वान् और नागरिक, महाराज दरभंगा के तत्वावधान में 'शारदा विश्वविद्यालय' के नाम से भारतीय शास्त्रों के अध्ययन के लिए एक उच्चतम संस्थान स्थापित करने के लिए प्रयत्शील थे। जुलाई 1911 में मालवीयजी प्रयाग में दरभंगा महाराज श्री रामेश्वर सिंह जी से मिले और अपनी योजना के सम्बन्ध में उन्होंने दरभंगा नरेश से विस्तृत चर्चा की। दरभंगा नरेश ने कहा कि यदि इस योजना के लिए भारत सरकार का समर्थन प्राप्त हो जाय तो वे भी मालवीयजी के साथ मिलकर धन संग्रह के लिए आवश्यक कार्य करेंगे। अगस्त 1911 में दरभंगा नरेश इस निमित्त शिमला गये। वहॉ उन्हें जानकारी मिली कि मालवीयजी की योजना पहले से ही से ही सरकार के विचाराधीन है। 11 अक्टूबर 1911 को मालवीयजी और महाराज दरभंगा, वाइसराय लार्ड हार्डिङ्. और भारत सरकार के शिक्षा सचिव सर हारकोर्ट बटलर से मिले। उन्होंने आश्वासन दिया किया कि कुछ शर्तो के पूर्ण होने पर प्रस्तावित विश्वविद्यालय को सरकारी मान्यता मिल सकती है। 12 अक्टूबर, 1911 को ही इस आश्वासन को सर हारकोर्ट बटलर ने एक पत्र पूर्वक महाराज दरभंगा को सूचित कर दिया। मालवीयजी की योजना को दरभंगा नरेश का परिपूर्ण समर्थन तुरन्त मिल गया और अति उत्साह के साथ उन्होंने पॉच लाख रूपये का एक चेक मालवीयजी के हाथ में रख दिया। (आजकल के रूपये की कीमत के अनुसार देखा जाय तो यह धनराशि पाँच करोड़ से भी अधिक की मानी जायेगी।)।

21 अक्टूबर 1911 को श्रीमती बेसंट का काशी में आगमन होते ही मालवीयजी उनसे मिले और उन्होंने उपर्युक्त सारा विवरण विस्तार पूर्वक उन्हें सुनाया। मालवीयजी के रूचिकर वर्णन को श्रीमती बेसंट प्रसन्न चित होकर सुनती रहीं, आनन्दमय हो गयीं। ब्रम्हविद्यावादिनी विदुषी एनी बेसेंट कुछ क्षणों के लिए परब्रह्म परमेश्वर के ध्यान में मग्न हो गयीं। उनके मुख से निकला–सब कुछ ईश्वरीय वरदान है; उन्हीं की कृपा है।

आगे का कार्य 22 अक्टूबर को ही प्रारम्भ हो गया। दरभंगा नरेश काशी आ गये। विचार–विमर्श हुआ और 28 नवम्बर 1911 को ''हिन्दू यूनिवर्सिटी सोसाइटी' के नाम से एक संस्था स्थापित हो गयी। महाराज दरभंगा इसके अध्यक्ष चुने गये। सर गुरूदास बनर्जी, श्रीमती एनी बेसेंट और डाक्टर रासविहारी घोष उपाध्यक्ष चुने गये। डाक्टर सुन्दरलाल को मंत्री का भार सौंपा गया। बाबू भगवान दास (बाद के भारतरत्न डॉक्टर भगवान दास), पण्डित इकबाल नारायण गुर्टू, पण्डित गोकरण नाथ मिश्र, पण्डित कृष्णराम मेहता और बाबू मंगला प्रसाद संयुक्त मंत्री नियुक्त हुए। इनको लेकर प्रबन्ध समिति में इकसठ सदस्य थे।

जार्ज पंचम का राज्याभिषेक महोत्सव दिल्ली में 12 दिसम्बर 1911 को आयोजित था। भारत की राजधानी भी दिल्ली हो गयी इस शुभ अवसर पर बंगाल के विभाजन को भी रद्द कर दिया गया। एक प्रकार से यह कांग्रेस की जीत थी। राज्याभिषेक उत्सव में सम्मिलित होने दिल्ली गये सभी प्रमुख लोग प्रयाग लौट आये। दिल्ली में ही हिन्दू यूनिवर्सिटी सोसाइटी की पहली बैठक हो गयी थी। उसमें निश्चय किया गया था कि सोसाइटी का कार्य अविलम्ब प्रारम्भ कर दिया जाय। तदनुसार 15 दिसम्बर 1911 को हिन्दू यूनिवर्सिटी सोसाइटी का रजिस्ट्रेशन सोसाइटीस् रेजिस्ट्रशन एक्ट नं. XXI–1880 के अन्तर्गत हो गया।

विश्वविद्यालय के लिए धन संग्रह का कार्य 15 जुलाई 1911 कों ही जोरदार ढंग से आरम्भ हो गया था। तीन महीने के अन्दर ही लगभग 33 लाख रूपये के वायदे हो गये। हिन्दू यूनिवर्सिटी सोसाइटी के निबन्धन होते ही इस कार्य में तेजी आ गयी। पहली जनवरी 1912 को नं. 4 कूपर रोड, इलाहाबाद (प्रयाग) में हिन्दू यूनिवर्सिटी सोसाइटी का कार्यालय खुल गया। भारतवर्ष के सभी मुख्य नगरों में धनसंग्रह कार्य को सफलतापूर्वक चलाने के लिए शिष्ट–मण्डल संगठित किये गये। 'हिन्दू यूनिवर्सिटी मूवमेन्ट' एक देशव्यापी आन्दोलन बन गया काश्मीर से कन्याकुमारी तक, गुजरात से आसाम तक भारत के प्राचीन गौरव का पुनरूत्थान करने के लिए लोगों में जागृर्ति आ गयी। वास्तव में यह आन्दोलन स्वतंत्रता संग्राम का एक अंग बन गया जिसका नेतृत्व कर रहे थे महान् तपस्वी, परम देशभक्त, वाग्मी मदन मोहन मालवीयजी।.....

(क्रमशः अगले अंक में)

●●●●

भूतपूर्व उपकुलसचिव (प्रशासन) का.हि.वि.वि. की पुस्तक ''महामना मालवीयजी और उनकी अमर कृति'' से साभार

साक्षात्कार

बाल-साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है : डॉ. बालशौरि रेड्डी

दक्षिण भारत में हिन्दी को लोकप्रिय बनाने में जिन विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, 'बालशौरी रेड्डी जी' उनमें शीर्षस्थ साहित्यकार हैं। बालशौरी रेड्डी २४ वर्षों तक लगातार चंदामामा पत्रिका के संपादक रहे हैं तथा दक्षिण भारत के हिन्दी के शीर्ष साहित्यकार हैं। इन पर अभी तक सैकड़ों शोधकार्य हो चुके हैं। वर्तमान में बालशौरी रेड्डी सवतंत्र रूप से लेखनकार्य में संलग्न हैं। प्रस्तुत है डॉ. शशांक शुक्ला से बालशौरी रेड्डी की बातचीत के कुछ अंश-

प्रश्नः बचपन की प्रेरणादायक स्मृतियाँ, जिन्होंने आपके जीवन को गहराई से प्रभावित किया हो–

उत्तर– बचपन आनन्ददायक होता है। नैसर्गिक कार्य कलापों को देख बालक विस्मय में आ जाता है। सूर्य और चन्द्रमा का उदय एवं अस्त होना पक्षियों का कलरव करते आसमान में उड़ना, मछलियों का पानी में तैरना, बछडों का छलांग मारते दौड़ना, बिल्ली, कुत्ते, गाय–भैंस, मुर्गी–मुर्गे, कबूतर आदि के साथ सहजीवन, इन आह्लादमय क्षणों के साथ कतिपय बच्चों में विषाद के प्रसंग भी जुड़ जाते हैं। हर्ष–विषाद एक ही सिक्के के दो पहलू जो हैं। जहाँ तक मेरे बचपन का सवाल हैं दो–चार ऐसे प्रसंग हैं जो आज भी मेरे स्मृतिपटल पर अंकित हैं, जिन्हे भुलाने की चेष्टा करने के बावजूद भी भूल नहीं पाता।

मैं तीन वर्ष का था, मेरी माँ प्रसव के लिए अपने मायके गयी थी उस परिवार में मेरी माँ सब से बड़ी थी। उनके दो छोटे भाई और चार छोटी बहनें थीं। मैं अपने नाना–नानी चाची व मामाओं का लाडला था। और ढेर सारे उपहार, सबकी आँखों का तारा था। संक्षेप में कहूं तों मैं उस परिवार का एक जीवन्त खिलौना था। हाथों में सोने के कंगन, कटि में चादी की करधनी। ऐसे उल्लासमय जीवन में विषाद अपना फण फैलायेगा किसको पता। प्रसव के समय सही इलाज न मिलने के कारण मेरी माँ का स्वर्गवास हो गया। सबको रोते देख मेरे विस्मय का कोई ठिकाना नहीं। मुझे आश्चर्य हुआ कि बच्चे तो रोते हैं; लेकिन बड़े भी रोते हैं, यह बात मेरी कल्पना के बाहर की बात थी। मेरी मां की अंतिम इच्छा थी कि उनके शव को दफना दिया जाय और उस पर एक बढ़िया समाधि निर्मित हो। दूसरी कामना थी मुझे अपने निःसंतान बड़े मामा दत्त पुत्र बना लें। माँ ने अपने भाई से कसमें करवाई और निश्चिंत चिर निद्रा में लीन हो गयी।

मुझे पता न था कि मृत्यु क्या होती है। मेरी माँ को दफनाते देख मैं रो पड़ा। मुझे उस वक्त ज्ञात हुआ कि मनुष्य का जीवन अस्थिर है। बचपन की अनेक प्रेरणा दायक स्मृतियाँ है; जिनका उल्लेख यहाँ पर संभव नहीं है. जो अपनी आत्म कथा में ही कही जा सकती है।

प्रश्नः साहित्य रचना की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई?

उत्तर– जहाँ तक शिक्षा का प्रश्न है प्राथमिक और हाईस्कूली शिक्षा आन्ध्र में ही संपन्न हुई। तदनंतर मैंने उच्च शिक्षा इलाहाबाद और वाराणसी में प्राप्त की। बचपन में मैंने सुना था कि काशी का अर्थ ज्ञान है। काशी शिक्षा का केन्द्र है, साथ ही तीर्थ भी। काशी में विद्याध्ययन करते समय अनायास ही उच्च कोटि के रचनाकारों–कवियों आदि का सानिध्य प्राप्त हुआ। लेखन की प्रक्रिया यहीं शुरू हुई। संपादकों का स्नेह व सहयोग मेरे सृजन के स्त्रोत बनें। तत्कालीन ग्राम संसार' के संपादक श्री काशीनाथ उपाध्याय 'बेधड़क' ने मेरी पहली रचना 'मेरे प्यारे बालकों' छापी और कविता लिखने की प्रेरणा श्री कमलापति त्रिपाठी के वात्सल्य भाव से मिली। इस प्रकार मेरे रचना संसार की आधार शिला रोपित हुई फिर क्या था गत 60 वर्षो से निरंतर गतिशील है।

प्रश्नः आपने रचनात्मक कर्म में बाल साहित्य को ही क्यों चुना?

उत्तर– पुराण, इतिहास, काव्य तथा नाटकों में भी मैंने ध्रुव, भारत, श्रवण, कुमार, प्रहलाद और कुश इत्यादि बालकों की शौर्य, भक्ति एवं साहसिक गाथाएँ सुन रखी थी। मेरे मन में उन चरित्रों का प्रभाव ऐसा पड़ा कि मुझे लगा अबोध बालक भी निष्ठा, लगन, विश्वास, साहस तथा दृढ़ता से असाध्य को साध्य बना कसते हैं। तो मैंने जहां भी ऐसे चमत्कार–पूर्ण घटनाएं समाज में घटित होते देखीं, उनको मैंने अपने सृजन का कथ्य बनाया। कहानी एकांकी, पौराणिक, ऐतिहासिक कथाओं के रूप में प्रस्तुत की। बालक जिस बात को सच मानता है, उस पर वह अटल रहता है। बड़ों के द्वारा दबाव, भय व आतंक की धमकी देने के बावजूद भी वह मार खाएगा, उसे सहयोग देगा। किन्तु झुकेगा नहीं। बड़ों को ही उनके साथ समझौता करना पड़ेगा। वे स्वभाव से सहज रूप में कोई गलती या अपराध नहीं कर सकते सामाजिक स्थितियां उन्हें गलत रास्ते पर कदम बढ़ाने के लिए विवश करती है, किंतु ऐसे उदाहरण कम मात्रा में ही दृष्टिगोचर होते हैं। उनके इन सहज गुणों को सही परिवेश के साथ विकसित होते देख हम उनको

अपनी रचना के कथ्य बना सकते हैं। यही मैंने किया।

प्रश्नः 'चंदा मामा' का संपादन अनुभव कैसा रहा?

उत्तर– चन्दामामा का आविर्भाव बच्चों को चरित्रवान आत्मविश्वासी स्वावलंबी, ईमानदार, साहसी, आज्ञाकारी बनाने की दिशा में प्रेरणादायक साहित्य उपलब्ध कराया जाए। चन्दामामा के संस्थापक फिल्म जगत के विख्यात निर्माता तथा एशिया में शीर्षस्थ विजया वाहिनी स्टूडियो के निर्माता तथा फालके अवार्ड ग्रहीता थीं। नागि रेड्डी ने अपनी माता की प्रेरणा से आज से 62 वर्ष पूर्व चन्दामाामा का तेलगु–तमिल संस्करण प्रकाशित किया, फिर क्रमशः हिन्दी, कन्नड, मलयालम, संस्कृत व अंग्रेजी के साथ 12 भाषाओं में प्रकाशित होकर बाल साहित्य के जगत में अपनी अलग पहचान बनाई। विशेष कर अपनी रचनाओं तथा रंगीन सहज चित्रों के कारण मैंने 1967 में चन्दामामा के हिन्दी के संपादकत्व संस्करण का दायित्व स्वीकार किया। इसके पूर्व तेलगु मेरी मातृभाषा तथा हिन्दी में 18 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। परंतु बच्चों की मानसिकता एवं उनकी आशा एवं आकांक्षाओं के अनुरूप यदि साहित्य दे न पाये तो सारा प्रयास व्यर्थ रह जाएगा। अतः कभी–कभी 10–12 बच्चों को बुलाकर मैं कोई कहानी सुनाता तो कुछ बच्चे कहते, अंकल, यह कहानी अच्छी नहीं है। हमको पसंद नहीं है। उसे फेंक देते। चारपाँच कहानियाँ सुनाने के पश्चात अधिकांश बच्चे जिस कहानी को पंसद करते उसमें जो बातें उनके दिल को छू लेती, उसे जानकर उनकी मानसिकता के अनुरूप रचनाएँ देने का प्रयास हुआ और सफलता हाथ लगी। यदि हम कोई उत्पादन करते हैं और वह ग्राहकों को पंसद न आये तो हमें नुकसान उठाना पड़ेगा। अतः ग्राहकों की अभिरूचि के अनुरूप उत्पादन करना आवश्यक है। यही बात साहित्य के तहत भी सटीक बैठती है।

प्रश्नः रचना प्रक्रिया में कौन सा तत्व प्रभावी बना?

उत्तर– रचना–प्रक्रिया के प्रधान तत्वों में पांच तत्व विशेष महत्व रखते हैं। प्रथम तत्व–वस्तु है। वस्तु बीज रूप में स्वस्थ्य ओर शक्तिशाली हों और जिसमें विस्तार की संभावनाएँ हों वह गुणकारी हो ओर उसका परिसर अथवा परिवेश वस्तु की रक्षा करने के साथ फलदायक भी हो। दूसरा–विकास की प्रक्रिया में वस्तु के चतुर्दिक का परिसर सहायक हो। तीसरा, तत्व–वस्तु के सौंदर्य के परिचय के साथ उसका वर्णन सरस और मनोरम शैली में प्रतिपादित हो। चौथा–रचना की परिणति में उसकी उपयोगिता उद्घाटित हो और पाँचवा तत्व–रचनाकार जो कुछ अपनी कृति के द्वारा संदेश देना चाहता है, वह संकेत के रूप में प्रकट हो। आदेशात्मक न हो तथा पाठक के दिल पर असर करने वाली हो, साथ ही उसे सोचने व समझने की प्रेरणा देने वाले हों। इनमें प्रमुख तत्व आकर्षक शैली में रचनाकार द्वारा वांछित संदेश दे हमें रक्त प्रसार की भांति रचना में सर्वत्र व्याप्त हो।

प्रश्नः पाश्चात्य देशों की तुलना में भारतीय बाल साहित्य लेखन की क्या स्थिति है?

उत्तर– पाश्चात्य देशों में बच्चों के पालन–पोषण स्वास्थ्य एवं शिक्षा में शासन की ओर से विशेष ध्यान दिया जाता है। उन देशों के विख्यात लेखक भी बाल साहित्य के सर्जकों के रूप में लोकप्रिय हैं। जब कि हमारे देश में बहुत कम शीर्षस्थ लेखकों ने बाल साहित्य के लेखन में अभिरूचि दिखाई। वैसे प्राचीन काल में पंचतंत्र हितोपदेश, कथा सरित्सागर जातक कथाओं के रूप में अनुपम तथा स्तरीय साहित्य का सृजन हुआ। कालांतर में बाल साहित्य का लेखन उपेक्षित ही रहा।

गत 4–5 दशकों से बाल साहित्य के लेखन, प्रकाशन और विक्रय में भी संतोषजनक परिवर्तन परिलक्षित हो रहा है। कहानी, कविता, नाटक इत्यादि के संकलन प्रकाशित हो रहे हैं। विशेष रूप से बाल साहित्य को प्रोत्साहन देने के लिए शासन तथा संस्थानों द्वारा भी पुरस्कार दिये जा रहे हैं। कतिपय पत्रिकाएँ भी संगोष्ठियों तथा सभा–समारोहों के माध्यम से बाल साहित्य के सृजन गुणवत्ता तथा विकास के आयामों पर चिंतन हो रहा है।

इन सबसे बढ़कर प्रसन्नता की बात यह है कि 2007 में न्यूयार्क में आयोंजित 8वें विश्व हिन्दीं सम्मेलन में चर्चा गोष्ठियों में बाल साहित्य गोष्ठी भी महत्व दिया गया और उसकी अध्यक्षता करने का मुझे सुअवसर प्राप्त हुआ था। यह एक शुभ लक्षण है।

प्रश्नः बालसाहित्य का भविष्य कैसा होगा?

उत्तर– भारत में बाल साहित्य का भविष्य उज्जवल है। समस्त भारतीय भाषाओं में पुस्तक प्रकाशन के साथ पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाशन भी अधिक मात्रा में होता जा रहा है। बच्चों के लिए विशेष रूप से बाल साहित्य के लिए अलग पुस्तकालय खोले जा रहे हैं। जिला, तहसील ग्रामीण केन्द्रों के पुस्तकालयों में भी बच्चों के लिए एक विशेष कक्ष का प्रबंध किया जा रहा है। वाचनालयों में भी बाल पत्रिकाएं पूर्व की अपेक्षा अधिक संख्या में मँगायी जा रही है। प्रचार व प्रसार के माध्यमों द्वारा भी बाल साहित्य के महत्व पर कार्यक्रम आयोजित हो रहे हैं। बच्चों के लिए फिल्म डिविजन प्रभाग द्वारा बाल फिल्मों के निर्माण को प्रश्राय दिया जा रहा है। साथ हीं उत्तम बाल फिल्मों को विशेष समारोहों में पुरस्कार बांटे जा रहे हैं। देश–विदेशों में प्रतिवर्ष आयोजित हो रहे क्षेत्रीय, राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय पुस्तक मेलों में बाल साहित्य के लिए अलग प्रखण्डों की व्यवस्था की जा रही है। साथ ही विश्व की विभिन्न भाषाओं में रचित उत्तम कृतियों का विविध भाषाओं में रूपांतर भी होता जा रहा है। बच्चों के लिए न केवल कथा–कहानी, चुटकले इत्यादि साहित्यिक विधाओं पर ही नहीं बल्कि समाजशास्त्र, विज्ञान, खेल इत्यादि अन्य विषयों की पत्रिकाएं भी प्रकाशित होने लगी हैं। दूरदर्शन के केन्द्रों द्वारा कार्टूनचित्र कथाओं के देश विदेशों में लोकप्रिय विविध विषयों पर जैसे हास्य यात्रा इत्यादि विषयों के कार्यक्रम प्रतिनित्य प्रायोजित हो रहे हैं। इन सबको देखकर लगता है कि बच्चों के मनोरंजन एवं ज्ञानवर्धन के लिए व्यापक स्तर पर अनेक कार्यक्रम कार्यान्वित हो रहे हैं। शासक भी अब बच्चों के समग्र विकास शारीरिक, बौद्विक एवं चारित्रिक की

दिशा में जागरूक हैं। सामाजिक संस्थाएं भी इस दिशा में सक्रिय होने के साथ जागरूक हैं। अभिभावक तथा राष्ट्रनेता भी अनुभव करने लगे हैं कि भावी नागरिक बनने वाले बच्चों के समग्र विकास पर ध्यान न देंगे तो राष्ट्र का भविष्य अंधकारमय हो जाएगा। इन सबके बावजूद भी अभी बहुत कुछ करने की जरूरत हैं। वांछित प्रयोजन अभी सुदूर सीमा के भीतर अपेक्षित है।

प्रश्नः युवा रचनाकारों के लिए क्या संदेश देना चाहेंगे?

उत्तर– अतः युवा रचनाकारों में जिज्ञासा है, उर्जा है आवेग है, कुछ कर गुजरने की लालसा ही नहीं प्रतिबद्वता भी है। वे अपने देश से स्वयं प्रेरित होकर अपनी अनुभुतियों को किसी न किसी रूप में उद्घाटित भी कर रहे है। किंतु हमारे राष्ट्र का दुर्भाग्य है कि युवा पीढी के सोच को उनकी आवश्यकताओं तथा उनको राष्ट्र के निर्माण में सही रूप में समायोजित कर सही दिशा–दर्शन कराने की और ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

युवा रचनाकार बहुत ही अच्छी चीजें दे रहे हैं। उनकी कल्पनाओं तथा अनुभूतियों को देख मैं प्रसन्न हूँ। किंतु उनको लेखन के क्षेत्र में वांछित प्रोत्साहन, सहयोग, मार्गदर्शन तथा दिशा दर्शन नहीं दिया जा रहा है। हाँलाकि नव लेखन शिविर अथवा सामाजिक गोष्ठियाँ आयोजित कर मुठ्ठी भर लोगों को प्रशिक्षा दिया जाता है। यह पर्याप्त नहीं है। ग्रामीण क्षेत्रों में रह रहे युवा रचनाकार बहुत ही मार्मिक तथा ज्वलंत प्रश्नों को उठा रहे हैं। उनकी रचनाओं को तराशनें, प्रकाशित करने व प्रोत्साहित करने की दिशा में सार्थक प्रयास नहीं हो रहे हैं। इस पर गंभीरता पूर्वक विचार करके समुचित प्रंबध करने की नितांत आवश्यकता है।

मै रचनाकारों को संदेश देने की क्षमता नहीं रखता किंतु अपने अनुभव के आधार पर कुछ सूचनाएँ देना अवश्य चाहूँगा। प्रथम तो यह है कि नये रचनाकार को अपने परिवेश के साथ समाज, राष्ट्र व अंतरराष्टीय समस्याओं की जानकारी होनी चाहिए वर्तमान समाज की समस्याओं को गहराई से समझने के साथ उनके निवारण के लिए कारगर सूत्रों का ज्ञान भी चाहिए। भाषा पर अधिकार, अपने पेशे के प्रति आदर व निष्ठा तथा विषय को सरल सहज व प्रभावशाली भाषा में अभिव्यक्त करने की क्षमता इन सबसे बढ़कर साधना भी महत्वपूर्ण है।

कोई भी रचनाकार उपरोक्त सूची को अपना कर सफल लेखक बन सकता है। हमलोग जंगल में उगे पौधे की भांति क्रमशः अपने प्रयास को फैलाते पाठकों के प्रिय पात्र बन सके हैं।

●●●●

पुस्तक परिक्रमा

'जेम्स प्रिंसेप' की काशी-कथा

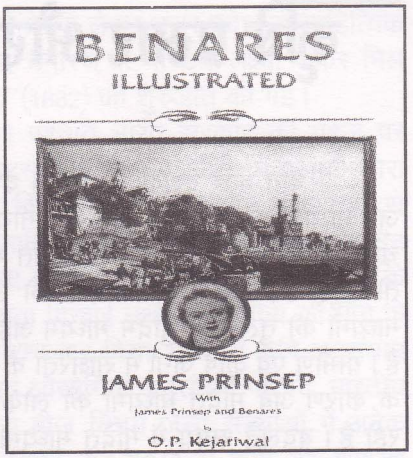

यदि कहीं कोई प्रतिभा प्रशस्तिहीन रह गयी है तो वह निश्चित ही जेम्स प्रिंसेप होंगे। सन् 1799 में जन्मे प्रिंसेप को केवल चालीस वर्ष की छोटी आयु प्राप्त हुई और वह 1840 में अतीत हो गये। इसके बावजूद विविध क्षेत्रों में उनके महती योगदान और उनकी अभिरूचियों के विस्तृत क्षेत्र को ध्यान में रखते हुये यह कहा जा सकता है कि वे मानव इतिहास में जन्में महानतम प्रतिभाओं में एक थे। इसलिये, क्योंकि वे एक ही समय में भौतिक विज्ञानी, रसायनविज्ञानी, नृविज्ञानी, भूगर्भविज्ञानी, वायुमण्डल विज्ञानी, मुद्रा शास्त्री, स्मारकीय प्रस्तरों पर लेख उत्कीर्ण करने वाले, नगर आयोजना बनाने वाले, मानचित्र निर्माता और एक वास्तुकार थे और यह सूची यहीं समाप्त नहीं होती। वास्तव में उनकी एक मात्र उपलब्धि– 'ब्राह्मी' लिपि जिसकी वजह से भारत और विश्व को महान शासक 'अशोक' जिसे विश्व इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था, के बारे में जानकारी हुई, उन्हें चैम्पोलियन और रॉलिन्सन जैसे अन्यों के साथ मेधा–इतिहास के महान लोगों में प्रतिष्ठित करती है और जब कोई इस बात पर ध्यान देता है कि जेम्स ने एक नहीं दो लिपियों– 'ब्राह्मी' और 'खरोष्ठी' को पठनीय बनाया जिसकी वजह से इण्डो–बैक्ट्रिया/इण्डो–साइथिया शासकों की पूरी श्रेणी के अस्तित्व का पता चला तो उस व्यक्ति के प्रति आश्चर्यजन्य श्रद्धा से वह नतमस्तक हो जाता है।

परन्तु भिन्न अभिरुचियों की बड़ी संख्या के बीच यह बनारस ही था, जिसके प्रति उनकी आसक्ति थी। उन्होंने अपनी छोटी जिन्दगी के महज दस बरस यहाँ बिताये। उनके योगदान पर नजर डालें तो यह कहा जा सकता है कि जेम्स प्रिंसेप ने इस पवित्र और प्राचीन नगरी को जितना योगदान दिया है उतना किसी अन्य ने नहीं। उन्होंने पहली बार इस शहर का नक्शा बनाया, पहली बार इसके अक्षांश ओर देशांतर का निर्धारण किया, पहली बार प्रामाणिक जनगणना करवाई और पहली बार ही 'कर्मनाशा' नदी पर उस पुल का निर्माण करवाया जो अभियंताओं और वास्तुकारों की योग्यता पर लगभग एक शताब्दी तक प्रश्नचिह्न लगाये रहा। यही वह व्यक्ति थे, जिसने नगर की भूमिगत सीवर प्रणाली का निर्माण कराया था और जो आज भी शहर की सेवा कर रहा है। जैसा कि एक पारिवारिक स्मारिका बतलाती है, ''यदि सूचियों को इस प्रकार विस्तृत किया जाये कि उसमें सड़कों, पुलों, नालियों और (बनारस की) प्रत्येक प्रकार की निर्मितियों का विस्तृत वर्णन शामिल हो, जो कि उनके कुशल हाथों द्वारा संचालित हो रहे थे और पूर्ण हुये थे तो पाठक पढ़ते–पढ़ते थक जायेगा''।

इन सारी उलझाऊ गतिविधियों के बावजूद उन्हें सर्दियों के अपराह्न में किसी 'घाट' पर शांतिपूर्वक प्रवाहित हो रही नदी (जिसे वह प्यार से 'हमारी गंगा' कहते थे) के समीप चारों ओर निरखते हुये और उनके महत्वपूर्ण कार्य 'बनारस इलस्ट्रेटेड' की परिकल्पना करते हुये बैठे देखा जा सकता था। जब आप इन पन्नों को पलटेंगे तो न केवल आप उनके साथ 'घाट–घाट' की यात्रा करेंगे, बल्कि एक सीमित अर्थों में शहर के जीवन में भी हिस्सा लेगें। विभिन्न स्थलों के त्रिआयामी चित्रण और इन आकर्षक रेखाचित्रों में प्रकाश–छाया की क्रीड़ा देखकर आश्चर्यचकित ही हुआ जा सकता है। इस संस्करण के साथ यह आशा की जा सकती है कि जेम्स को भी अपने युग के महत्वपूर्ण कलाकारों में स्थान प्राप्त हो सकेगा।

उपरोक्त पुस्तक "BENARES ILLUSTRATED" के लेखक व अनुसंधानकर्ता डॉ. ओ.पी. केजरीवाल 2005 के 'सूचना का अधिकार अधिनियम के' अन्तर्गत नियुक्त होने वाले प्रथम पाँच सूचना आयुक्तों में से एक हैं। जिन अन्य पदों को उन्होंने अपने लम्बे, महत्वपूर्ण कार्यकाल मे सुशोभित किया है, उनमें प्रसार भारती के मुख्य कार्यपालक अधिकारी (CEO), आकाशवाणी के महानिदेशक, प्रसारण प्रभाग के निदेशक और नेहरु स्मारक संग्रहालय व पुस्तकालय नई दिल्ली के निदेशक आदि प्रमुख हैं।

डॉ. केजरीवाल एक स्थापित अध्येता भी हैं। उन्हें नेहरू फेलोशिप और 'रॉयल एशियाटिक सोशाइटी ऑफ गेट ब्रिटेन' की ओर से विजिटिंग फेलोशिप मिली है। उनकी पुस्तक 'द एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल एण्ड द डिस्कवरी ऑफ इण्डियाज पास्ट (1784–1838) की प्रस्तावना में प्रख्यात प्राच्यविद्या विशेषज्ञ एल बाशम ने टिप्पणी की है– ''विश्वव्यापी सहृदय पाठकों के लिये प्रशंसनीय अध्ययन''।

जब वे इस पुस्तक पर काम कर रहे थे तो वे प्रिन्सेप परिवार के इतिहास के बारे में जिज्ञासु हुए, जिसके सदस्य भारत में विविध क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कार्यक्षेत्रों में रहे। इनमें से निश्चित रूप से सर्वाधिक महत्वपूर्ण जेम्स प्रिंसेप ही थे। कुल मिलाकर "BENARES ILLUSTRATED" काशी की ऐतिहासिकता, सामाजिक जीवन एवं अनूठी संस्कृति को जानने–समझने का अद्वितीय संकलन है।

●●●●

–प्रमोद शंकर पाण्डेय
शोध छात्र, हिन्दी विभाग (का.हि.वि.वि.)

शोध-1

कृषि प्रसार और मुद्रित माध्यम : कल, आज और कल

राजेश सिंह*

बीते कुछ दशकों के दौरान देश के कृषि प्रसार में जन माध्यमों की सक्रियता में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। इसके चलते प्रौद्योगिकी हस्तान्तरण की गति भी पूर्व की तुलना में तीव्र हुई है। प्रसार कार्ययोजना को लागू करने में अन्य माध्यमों की तुलना में मुद्रिम माध्यम अहम भूमिका निभा रहे हैं। ग्रामीण एवं कृषि जनों में साक्षरता के प्रतिशत में हुई वृद्धि के कारण अब मुद्रित माध्यमों की लोकप्रियता तेजी से बढ़ रही है। बदलते समय में मुद्रित माध्यमों की तेजी से बढ़ती माँग की वजह से ग्रामीण एवं दूरस्थ अंचलों मे इनकी प्रसार संख्या में इजाफा हो रहा है। इसके फलस्वरूप विगत दो दशकों में कृषि से सम्बन्धित प्रकाशनों की संख्या में भी बढ़ोत्तरी दर्ज की जा रही है। इस लेख में कृषि क्षेत्र में मुद्रित माध्यमों के अतीत एवं वर्तमान के साथ साथ भविष्य की सम्भावनाओं पर चर्चा की जाएगी।

कृषि प्रसार में मुद्रित माध्यमों की स्थिति पर चर्चा करने से पहले संचार को समझना होगा जिसे अंग्रेजी में कम्युनिकेशन कहते हैं। अर्थ की दृष्टि से संचार शब्द अपने साथ विभिन्न पर्यायों को जोड़ता है, इसके पर्यायवाची शब्द फैलाव, विस्तार, प्रसारण आदि है।

समाचार पत्र एवं मुद्रित माध्यमों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण संस्थाएं : इस माध्यम के अन्तर्गत भारत के समाचार पत्रों के पंजीयक, पत्र सूचना कार्यालय, स्वामित्व का स्वरूप, फोटो सेवा प्रत्यापन, सांस्कृतिक आदान–प्रदान कार्यक्रम, क्षेत्रीय एवं शाखा कार्यालय , कम्प्यूटरीकरण, समाचार एजेन्सियाँ, गुटनिरपेक्ष समाचार, प्रेस आयोग, प्रेस परिषद फोटो प्रभाग, प्रकाशन विभाग आदि सम्मिलित है।

समाचार पत्रों के पंजीयक : भारत में समाचार पत्रों के पंजीयक का कार्यालय जुलाई 1956 में आरम्भ हुआ। पंजीयक के कार्यकलापों को प्रेस पंजीयक बुक अधिनियम 1867 में परिभाषित किया गया है। जिसका समय समय पर संशोधन होता रहता है। इसके अतिरिक्त पंजीयक समाचार पत्रों के लिए अखबारी कागज के आवंटन एवं छपाई की मशीनों के आयात के लिए अनुमोदन करने का काम भी करते हैं। भारतीय प्रेस में 35 समाचार पत्र ऐसे हैं जो सौ वर्षों से पहले शुरु हुए थे। इस श्रृंखला में आनन्द बाजार एवं युगान्तर भी आते हैं।

कम्प्यूटरीकरण : वर्ष 1940 में चार्ल्स वैवेज ने गणितीय समस्या को हल करने के लिए आधुनिक कम्प्यूटर का निर्माण किया। भारत आज कम्प्यूटर के पाँचवें युग में है, जिसमें पाँच वर्ग मिमी के छोटे से सेल में तीस हजार कम्पोनेन्ट्स का प्रयोग किया जाता है और कम्प्यूटर का आकार भी काफी छोटा होने के साथ–साथ इसकी क्षमता में काफी वृद्धि हो गयी। अब मुद्रण एवं प्रकाशन में कम्पोजिंग एवं ले आउट डिजाइनिंग भी कम्प्यूटरीकृत डेस्कटाप पब्लिशिंग सिस्टम की मदद से सम्भव है।

समाचार एजेन्सियाँ : भारत में चार समाचार एजेन्सियाँ प्रेस ट्रस्ट आफ इण्डिया, यूनाइटेड न्यूज आफ इण्डिया, समाचार भारती और हिन्दुस्तान समाचार थी। 1976 में इन चारों समाचार एजेन्सियों का "समाचार" नाम की एजेन्सी में विलय हो गया। 16 अप्रैल 1978 को पुनः चारो एजेन्सियाँ स्वतन्त्र रूप से कार्य करने लगी। प्रमुख एजेन्सी पीटीआई की स्थापना 27 अगस्त 1947 को की गयी, जबकि यूनाईटेड न्यूज आफ इण्डिया (यूएनआई) वर्ष 1959 में एक कम्पनी के रूप में पंजीकृत हुई थी। मार्च 1961 से इसने समाचार देने का कार्य शुरु किया। मई 1982 से इस एजेन्सी ने यूनिवार्ता नाम से हिन्दी में समाचार सेवा शुरु की। ये दोनों एजन्सियाँ केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों, सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों सहित समाचार पत्रों की विभिन्न भाषाओं में समाचार उपलब्ध करवाती हैं।

कृषि विकास में जन माध्यमों (मुद्रित माध्यमों) का योगदान : अनेक माध्यमों में जनसम्प्रेषण ही एक मात्र ऐसा माध्यम हैं जो आज की अनेक जरूरतों की पूर्ति करता है, समाचार पत्र, पत्रिकाएं, फिल्म, रेडियो तथा टेलीविजन ऐसे माध्यम है जो कृषि विकास के क्षेत्र में विश्वसनीय साबित हो सकते हैं। इन सभी माध्यमों में मुद्रित माध्यम इस लिहाज से अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें प्रकाशित सामग्री दीर्घ समय तक संग्रहणीय होती है। यह ऐसा माध्यम है जिनके जरिये विशाल ग्रामीण समुदाय तक सूचनाएं व्यवस्थित तरीके से पहुँचाई जा सकती है। भारतीय परिप्रेक्ष्य मे शर्मा और सिंह का कहना है कि जनसम्प्रेषण माध्यम मात्र अकेले विकास के सूक्ष्म से सूक्ष्म अन्तराल तक पहुँच सकता है, जिसके आधार पर लाखों ग्रामीणों तक लाभदायक ज्ञान और तकनीकी परिचालित परियोजनाओं को पहुँचाया जा सकता है। खासकर उन क्षेत्रों में जहाँ किसान कृषि कार्य सम्पादित करते हैं।

वास्तव में कृषि एवं विज्ञान दोनों एक दूसरे से काफी समरूप हैं तथा हिन्दी भाषा इसके संचार के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यहाँ मुद्रित माध्यमों के प्रकाशनों सम्बन्धी इतिहास को जानना नितान्त आवश्यक है। 1976 में इंग्लैण्ड में छापेखाने का निर्माण हुआ जो अपने आप में प्रकाशनों के प्रगति की देन थी। भारत में यह मशीन 1557 में गोवा पहुँच चुकी थी। 29 जनवरी 1880 को पहला समाचार पत्र "कलकत्ता एडवरटाइजर" प्रकाशित हुआ। 1816 में बंगाल गजट का प्रकाशन पत्रकार श्री गंगाधर भट्टाचार्य द्वारा कलकत्ता से किया गया। उन्नीसवीं सदी से पूर्व और उसके दो दशक बाद भी जो लेखन शुरु हुआ उसकी विशेषता यह रही कि उन्होंने कृषि पत्रकारिता को विज्ञान पत्रकारिता से अलग नहीं माना बल्कि हिन्दी में जो विज्ञान पत्रकारिता इस दौरान इंगित हो गई उसमें कृषि एवं ग्रामीण विकास से जुड़े हर विषय विज्ञान लेखन की श्रेणी में रहा और

उसे जीवन से जुड़े विज्ञान के अर्थ से देखा गया। यही कारण था कि इस दौरान कृषि लेखन भले ही विज्ञान लेखन का अभिन्न अंग था लेकिन उसकी अपनी पहचान पनपने लगी थी। इसका मुख्य कारण यह भी था कि कृषि से जुड़ी कहावतें, घटनाएं तथा जानकारियाँ सब हमारे जीवन से गहरा सम्बन्ध रखती थीं। घाघ भड्डरी की कहावतों के अलावा हमारे प्राचीन ग्रन्थों में कृषि की चर्चा अपने आप में कृषि लेखन को पुख्ता करती थीं। देश के कृषि लेखन में अलीगढ़ से प्रकाशित गजट का विशिष्ट स्थान है। इस गजट के शुरुआती अंकों में कपास की खेती, भारत में कृषि को सुधारने सम्बन्धी प्रस्ताव, भारतीय कृषि में यूरोपीय औजार तथा देहात में रूढ़ीवाद जैसे लेख प्रकाशित हुए। कुछ वर्षों बाद बनारस से खेत, खेती, खेतिहर (1900) नाम से एक पाक्षिक कृषि पत्रिका प्रकाशित हुई। सहकारिता के सूत्रपात के बाद मध्य प्रान्त से किसान और सहकारी समाचार (1904), बिहार से किसान मित्र (1911) जैसी महत्वपूर्ण कृषि पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ जो बेहद लोकप्रिय भी हुई। इसके बाद कुछ वर्षों का अन्तराल आया लेकिन फिर कृषि की माँग बढ़ी और कृषि पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगी। इसमें मैनपुरी से ''कृषि सुधार(1914), आगरा से ''कृषि (1918) इन्दौर से खेती–बाड़ी (1929) के अलावा उस समय प्रमुख पत्रिकाएं ''हलधर,'' ''गाँव'', ''देहाती दुनिया'', ''ग्राम सुधार'', ''ग्राम सेवक'', ''किसान संदेश'', ''ईख समाचार'', ''पंच ज्योति'', ''पंचवाणी'', ''सहकारी'' आदि अनेक माध्यमों ने कृषि लेखन में मिशाल कायम किया। हालात यहाँ तक पहुँच गए कि विशुद्ध विज्ञान की पत्रिकाओं की तुलना में कृषि प्रकाशन अधिक लोकप्रिय होने लगे। कृषि विज्ञान में लेखन अन्य विधाओं से हटकर पनपा।

लेखन में समाचार पत्रों का इतिहास भी कम रोचक नहीं है। कलकत्ता से प्रकाशित सुधावर्णन(1854) और प्रतापगढ़ से प्रकाशित हिन्दोस्थान(1885) विशेषरूप से प्रकाश में आए। इसके अलावा मेवाड़ से प्रकाशित सज्जन कीर्ति सुधाकर (1879) अल्मोड़ा अखबार (1871) भी उल्लेखनीय है। उक्त समाचार पत्रों की खासियत यह थी कि इसमें कृषि से सम्बन्धित विषयों को रोचक तरीके से प्रकाशित किया जाता था। दूसरे विषय भी जनप्रिय होते थे। महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय द्वारा सम्पादित समाचार पत्र ''हिन्दोस्थान'' में कृषि एवं ग्रामीण विकास हितैषी विषयों से सम्बन्धित रोचक एवं ज्ञानवर्धक सामग्री को सरल भाषा में प्रकाशित किया जाता था। इसी दौरान उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ में एक वैज्ञानिक समिति का गठन हुआ। इस संस्था ने पहली बार एक ऐसे साप्ताहिक की शुरूआत की जो पूरी तरह से कृषि तथा विज्ञान लेखन प्रस्तुत करता था। अलीगढ़ इंस्टीट्यूट गजट (1866) नामक इस साप्ताहिक समाचार पत्र में कृषि विज्ञान को प्रमुखता दी गयी। इसमें कृषि विधियों, कृषि औजारों, तकनीकि कृषि समाचार जैसे जनहितकारी विषयों पर महत्वपूर्ण आलेख प्रकाशित किए जाते थे। ऐसा माना जाता है कि यही साप्ताहिक विज्ञान पत्रिका विशेष तौर पर कृषि लेखन की शुरुआत थी। इसी से प्रेरणा लेकर उत्तर प्रदेश के साहित्यिक गतिविधियों के केन्द्र बनारस से पण्डित लक्ष्मी शंकर मिश्र द्वारा ''काशी पत्रिका''(1882) की शुरुआत की गई।

कुछ समय पश्चात् भारत सरकार की पहल पर कृषि, ग्रामीण विकास एवं संचार जैसे मंत्रालयों द्वारा संचालित प्रकाशन विभाग भी सक्रिय हुए तथा यहाँ से वार्षिक, छमाही, त्रैमासिक, पाक्षिक तथा मासिक प्रकाशन आरम्भ हो गए। केन्द्र सरकार की तर्ज पर अनेक राज्यों के विभागों ने भी सक्रियता दिखाई तथा अपने राज्य की माँग के अनुरूप प्रकाशन आरम्भ कर दिया, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद, भारतीय खाद्य निगम, राष्ट्रीय बीज निगम जैसी संस्थाओं में अनेक प्रकाशन शुरु कर दिए। सन् 1948 में कृषि की शीर्षस्थ संस्था भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद ने ''खेती'' मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। अपने पहले ही अंक में खेती पत्रिका ने आकर्षित किया। इसके प्रोत्साहन के लिए स्वयं देश के प्रथम प्रधान मंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने आह्वान किया था। इसके पहले अंक का आवरण रंगीन था, जिसपर एक ग्रामीण महिला का चित्र अंकित था। उस वक्त पत्रिका का मूल्य मात्र आठ आना रखा गया। खेती पत्रिका की लोकप्रियता शुरु से ही तीव्र गति से बढ़ी, चूँकि यह कृषि विषय की हिन्दी में पहली ऐसी पत्रिका थी जिसमें कृषि से सम्बन्धित शोध कार्य सीधे शोधकर्ता द्वारा प्रस्तुत होते थे। इसलिए किसानों ने इसे हाथों–हाथ लिया साथ ही कृषि विज्ञान के विद्यार्थियों के बीच यह पत्रिका लोकप्रिय हुई। इसी दौरान मध्य प्रदेश के कृषि विभाग द्वारा ''किसानी समाचार'' और कुछ वर्षों बाद लखनऊ से कृषि और पशुपालन (1950) पत्रिका प्रकाशित हुई। दोनों ही पत्रिकाएं अपने क्षेत्र विशेष रुप से सम्बन्धित कृषि और पशुपालन पर जानकारी देती थीं। इसके अलावा ये पत्रिकाएं अपने विभाग के कृषि कार्यों पर भी प्रभावी तरीके से प्रकाश डालती थीं। चूँकि इस क्षेत्र के पढ़े लिखे किसानों को कृषि सम्बन्धी नई जानकारियों की आवश्यकता थी। अतः उन्होंने इन पत्रिकाओं को अधिक पसन्द किया। इन पत्रिकाओं के कुछ विशेषांको में सैकड़ों सफल किसानों के साक्षात्कार भी प्रकाशित किए गए, इससे इनकी लोकप्रियता में तेजी ये इजाफा हुआ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के डेढ़ दशक बाद कृषि लेखन की स्थिति में विशेष रूप से सुधार हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि कृषि एक बड़ी जनसंख्या से जुड़ी हुई थी और उसे अपने व्यवसाय से सम्बन्धित महत्वपूर्ण जानकारी की जरूरत थी ताकि किसान बेहतर विधि, नवीन प्रजातियाँ, नई नस्लों को उचित स्थान से बिना किसी धोखाधड़ी के प्राप्त कर सके। किसानों में तेजी से बढ़ रहे कृषि लेखन की लोकप्रियता का लाभ उठाते हुए दैनिक समाचार पत्रों ने भी कृषि सम्बन्धी लेख प्रकाशित करना शुरु कर दिया। दिल्ली के दैनिक हिन्दुस्तान तथा कानपुर के प्रताप ने अपने रविवासरीय अंकों में सुप्रसिद्ध कृषि अर्थशास्त्री डॉ गंगाधर अग्रवाल के लेख नियमित रूप से प्रकाशित करना आरम्भ

कर दिया। इन लेखों में कुछ प्रमुख शीर्षक ''खेतों के बढ़ते टुकड़े और चकबन्दी'', 'भारतीय कृषि और ऋण समस्या' जैसे लेखों के अलावा कृषि यंत्रों व ग्रामोद्योग जैसे उपयोगी लेख प्रकाशित किए गए।

वर्ष 1950–51 के दौरान देश में अन्न उत्पादन में बढ़ोत्तरी के लिए प्रयास किए जा रहे थे तथा सरकार की ओर से ''अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन'' की शुरुआत की गई। इसी के प्रचार–प्रसार के लिए धरती के लाल नामक कृषि साप्ताहिक पत्रिका प्रारम्भ की गई। बाद में इस पत्रिका को पाक्षिक कर दिया गया। इसी दौरान कृषि मंत्रालय भारत सरकार के कृषि विस्तार निदेशालय मे फार्म सूचना एकक की शुरूआत हुई। इसका कार्य प्रकाशनों द्वारा कृषि पद्धतियों का प्रचार–प्रसार करना था, इसकी कार्यप्रणाली के तहत हिन्दी की दो नई पत्रिकाएं प्रकाशित की गई। इनमें मासिक पत्रिका ''उन्नत कृषि''(1952) विशेष रूप से उल्लेखनीय है, साथ ही ग्रामीण महिलाओं के हितों को ध्यान में रखते हुए इसी क्षेत्र से धरनी नामक पत्रिका का प्रकाशन किया गया। इसी श्रृंखला में अलीगढ़ जिला परिषद से पंचायत राज , क्रिश्चियन कृषि इंस्टीट्यूट इलाहाबाद से ''हमारा गाँव'' (1948) फरूखाबाद से ''पंचमुख'' , गोंडा से ''पंच प्रकाश'', शाहजहाँपुर से ''पंच संदेश'', आगरा से ''पंचायत राज'', हमीरपुर से ''पंचायत सुधा'', मध्यप्रदेश से ''जमीन की पुकार'', छपरा बिहार से ''आदर्श किसान'' , अलवर से ''किसान साथी'', कोटा से ''किसान संदेश'', भरतपुर से ग्राम की बात, मैनपुरी से ''ग्राम सुधार'', जबलपुर से ''धरती'', दिल्ली से ''हमारा गाँव'' आदि प्रमुख कही जाएंगी।

देश में कृषि विश्वविद्यालयों की स्थापना के साथ ही क्षेत्रीय स्तर पर कृषि लेखन में खूब बृद्धि हुई, इसमें 1960 में पन्तनगर कृषि विश्वविद्यालय से कई पत्रिकाओं का प्रकाशन किया गया। यहाँ से एक कृषि मासिक पत्रिका ''किसान भारती'' (1970) विशेष रूप से चर्चित एवं किसानों में लोकप्रिय रही। इसी क्रम में हरियाणा कृषि विश्वविद्यालय हिसार से हरियाणा खेती का प्रकाशन भी महत्वपूर्ण शुरुआत थी। इसी प्रकार जवाहरलाल नेहरू कृषि विश्वविद्यालय जबलपुर से ''कृषि विश्व'' पर्वतीय परिसर रानी चौरी से ''पहाड़ी खेती बाड़ी'' प्रकाशित होने लगी। सरकारी प्रयासों में अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रयास भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद द्वारा किया गया। परिषद से सन् 1978 में बागवानी पर एक त्रैमासिक पत्रिका फलफूल का प्रकाशन किया गया। इस पत्रिका की विशेषता यह थी कि इसमें परिषद के बागवानी, पुष्प विज्ञान, भूदृश्य आदि से सम्बन्धित संस्थानों के ताजातरीन शोध कार्यों को सीधे सम्बन्धित वैज्ञानिकों की लेखनी से प्रस्तुत किया जाता था। चूँकि शोधकर्ता ही सीधी जानकारी देते थे इस कारण उसमें कहीं भी कमी बेसी होने का सवाल ही नहीं उठता था। इसी दौरान परिषद द्वारा एक कृषि डायजेस्ट का प्रकाशन भी आरम्भ किया गया। कृषि ''चयनिका'' नामक इस त्रैमासिक में देश विदेश के महत्वपूर्ण शोध कार्यों को हिन्दी में प्रस्तुत किये जाने का क्रम आरम्भ हो गया। यह पत्रिका शोधकर्ताओं, विद्यार्थियों एवं कृषि सम्बन्धी नए कार्यों में रूचि रखने वालों के लिए वरदान साबित हुई। हिन्दी में कृषि तथा विज्ञान रिपोर्टर के रूप में कई संस्थानों ने पत्र निकाले जैसे भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद का आईसीएआर समाचार, राष्ट्रीय डेयरी अनुसन्धान संस्थान करनाल का ''डेरी समाचार'' भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद नई दिल्ली का ''पूसा समाचार'' केन्द्रीय आलू अनुसन्धान संस्थान शिमला का ''आलू समाचार'' राजस्थान कृषि विभाग से ''राजस्थान किसान समाचार'' आदि।

कुछ समय पश्चात् नेशनल रिसर्च डेवलपमेण्ट कार्पोरेशन द्वारा ''ग्राम शिल्प'' नाम से एक पत्रिका का प्रकाशन किया गया। इस त्रैमासिक पत्रिका में कृषि सम्बन्धी लेख प्रकाशित किये जाते थे, पत्रिका की प्रस्तुति अत्यन्त प्रभावी होने के बाद भी किन्हीं कारणों से पत्रिका का प्रकाशन बन्द हो गया , अपने अन्तिम समय में यह पत्रिका आविष्कार में समाहित हो गयी। वर्तमान में कृषि समय सम्बन्धी जानकारी समय–समय पर ''आविष्कार'' में ही प्रकाशित की जाती है। इसमें विश्व खाद्य दिवस पर विशेष सामग्री का प्रकाशन उल्लेखनीय है। कृषि लेखन के क्षेत्र में काफी अनुकरणीय पहल की गयी। आयोग ने ''विज्ञान गरिमा सिन्धु'' नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। इस पत्रिका की विशेषता यह है कि इसमें अधिकतर अपने अंकों के एक ही विषय पर समर्पित किया जाता है, जैसे जैव प्रौद्योगिकी, कृषि पशुपालन आदि। कृषि को ठोस आधार देते हुए मौलिक लेखन की दृष्टि से पत्रिका ने कुछ रोचक प्रयोग भी किए।

कृषि क्षेत्र में मुद्रित माध्यमों की वर्तमान स्थिति : कृषि लेखन की विकास यात्रा निरन्तर जारी है। पूर्व में की गयी शुरुआत में आज चार–चाँद लग गए हैं , तो दूसरी ओर कुछ नवीन प्रयास भी किए जा रहे हैं। इस दिशा में नवीन पत्रिकाएं, पुस्तकें, पत्रक तथा पत्र आदि प्रकाशित हो रहे हैं। इनमें से दैनिक हिन्दुस्तान का ''यूरेका'', दैनिक जागरण की ''खोज'' और सहारा समय के ''विज्ञान पर्यावरण'' तथा ''तनमन'' पृष्ठ उल्लेखनीय हैं। इसमें दो मत नहीं है कि कृषि आज जीवन का अभिन्न हिस्सा है, जब जीवन में गतिशीलता है तो कृषि प्रसार तथा मुद्रण की गति में तेजी आना स्वाभाविक सी बात है। दैनिक राष्ट्रीय समाचार पत्रों जैसे ''द हिन्दू '' अंग्रेजी के अलावा टाइम्स आफ इण्डिया, पायनियर, टेलीग्राफ, स्टेट्समैन तथा इण्डियन एक्सप्रेस में कृषि विशेषांकों के साथ–साथ नियमित कृषि स्तम्भ भी प्रकाशित किए जाते हैं। इसके अलावा हिन्दी में नई दुनिया, दैनिक भास्कर, नव भारत , स्वदेश, देशबन्धु, दैनिक जागरण आदि में लगातार कृषि प्रसार पर विशेषांकों, परिशिष्ठों तथा स्तम्भों का प्रकाशन नियमित रूप से किया जाता है। पंजाब कृषि विश्वविद्यालय द्वारा पंजाबी भाषा में कृषि सम्बन्धी अनेक पुस्तको का प्रकाशन किया जाता है। पंजाबी समाचार पत्र '''पंजाब केशरी'' दैनिक ट्रिव्यून में कृषि पर नियमित स्तम्भ प्रकाशित होते हैं। पंजाब में निजी तौर पर ''चंगी खेती'', ''पंजाबी खेती'' तथा ''खेती दुनिया'' नाम की पत्रिकाओं का प्रकाशन किया जाता है। असमिया भाषा में 1930 के

आस–पास पशुपालन नामक पहली पत्रिका का प्रकाशन किया गया। असम कृषि विश्वविद्यालय द्वारा कृषि निचन नामक पत्रिका का प्रकाशन होता है। मराठी में ''बलिराजा'' तथा''शेती'' नामक पत्रिका आज भी अत्यन्त लोकप्रिय है। भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद की पहल पर क्षेत्रीय भाषा में राज्यवार पत्रिकाओं का प्रकाशन हो रहा है ताकि किसान उसे बेहतर तरीके से समझकर लाभ उठा सकें।

कृषि सम्बन्धी प्रकाशनों का संक्षिप्त विवरण : कृषि प्रसार के क्षेत्र में मुद्रित माध्यमों खासकर समाचार पत्रों, पत्रिकाओं तथा जर्नल्स आदि ने काफी तरक्की कर लिया है, देश के कृषि क्षेत्र की शीर्ष संस्था भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद, भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान के अलावा कृषि विश्वविद्यालयों तथा राज्य सरकारों के शासकीय विभागों ने भी प्रकाशनों पर ध्यान शुरु कर दिया। कुछ निजी क्षेत्र की संस्थाएं भी इस कार्य में अग्रणी भूमिका निभा रही हैं तथा वैज्ञानिकों तथा किसानों के बीच सेतु का काम करने की दिशा में तत्पर हैं। आगे विभिन्न संस्थानों के प्रकाशनों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद द्वारा प्रकाशित पत्रिकाएँ:

1. इण्डियन हार्टिकल्चर– यह अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित त्रैमासिक, सेमी–टेक्निकल पत्रिका है। यह 1956 में आरम्भ की गयी, इसके अन्तर्गत सब्जियों, फलों एवं फूलों से सम्बन्धित नवीनतम तकनीकी सामग्री प्रकाशित की जाती है। इसमें फलों, फूलों, सब्जियों, बागवानी, लैण्डस्केपिंग, रोपणवाली फसलों, औषधीय एवं सुगन्धीय पौधों के सम्बन्ध में सामग्री का प्रकाशन किया जाता है। इसमें अनुसंधान प्रौद्योगिकी के साथ–साथ अनुवांशिक विविधता सम्बन्धी स्तम्भों को प्रकाशित किया जाता है।
2. इण्डियन फारमिंग– यह पत्रिका मासिक आधार पर अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित होती है। यह वर्ष 1940 से प्रकाशित होने कृषि अवधारणा पर आधारित है। इसमें भारत में अलग–अलग जलवायु क्षेत्र के लिए निर्धारित है। इसमें फसल, पशुधन, मछली, कृषि प्रौद्योगिकी, प्रसार, कृषि, अर्थशास्त्र, एवं कृषि राजनीति शास्त्र जैसे घटक समाहित है। इसमें आलेख पुस्तक लेखन तथा पुस्तक समीक्षा एवं सम्पादकीय पृष्ठ होते हैं। इस पत्रिका के अन्तर्गत वर्ष में दो विशेषांकों का प्रकाशन किया जाता है। पहला ''विश्व खाद्य दिवस'' के उपलक्ष्य में अक्टूबर महीने में तथा दूसरा विशेषांक किसी अवसर विशेष पर प्रकाशित होता है।
3. फल–फूल– यह त्रैमासिक पत्रिका हिन्दी भाषा में प्रकाशित होती है।
4. खेती– यह पत्रिका त्रैमासिक है तथा हिन्दी में प्रकाशित होती है।
5. कृषि चयनिका– यह हिन्दी में प्रकाशित होने वाली त्रैमासिक पत्रिका है।

कृषि विश्वविद्यालयों एवं शासकीय संस्थानों में प्रकाशित पत्रिकाएँ:

1. कृषि दर्शिका– यह हिन्दी में प्रकाशित होने वाली त्रैमासिक पत्रिका है, इसका प्रकाशन सरदार बल्लभ भाई पटेल कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय मेरठ (उ0प्र0) द्वारा किया जाता है।
2. विन्ध्य कृषि– यह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के राजीव गाँधी दक्षिणी परिसर बरकछा मिर्जापुर में स्थित कृषि विज्ञान केन्द्र द्वारा प्रकाशित की जाती है, इसमें विन्ध्य क्षेत्र में उत्पादित होने वाली फल–फूल, सब्जी, अनाज, दलहन, तिलहन के साथ–साथ उन्नत प्रौद्योगिकीय पर आधारित नवीनतम जानकारियाँ प्रकाशित की जाती है।
3. कृषि विश्व– यह पत्रिका पूरी तरह से तकनीकि जानकारियों से भरपूर है, इसमें खरीफ, रवी तथा जायद सीजन में उत्पादन की जाने वाली फसलों के अलावा फल, फूल, सब्जी, मसाले तथा औषधीय फसलों से सम्बन्धित जानकारियों का प्रकाशन किया जाता है। यह जवाहरलाल नेहरू कृषि एवं प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय आधारताल जबलपुर द्वारा प्रकाशित होती है।
4. इण्डियन जर्नल ऑफ साईंस कम्यूनिकेशन– इस जर्नल का प्रकाशन राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद (नेशनल कौंसिल फॉर साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी कम्युनिकेशन विज्ञान एवं प्रौद्योगिकीय विभाग, भारत सरकार नई दिल्ली) द्वारा किया जाता है। इसमें कृषि तथा विज्ञान से सम्बन्धित शोध व संचार पर आधारित आलेखों का प्रकाशन हिन्दी एवं अंग्रेजी माध्यम में किया जाता है।
5. कोआपरेटर– यह पत्रिका भारतीय राष्ट्रीय सहकारी संघ द्वारा प्रकाशित की जाती है। इसमें कृषि के साथ–साथ सहकारिता क्षेत्र में हो रहे नित नवीन अनुसंधानों एवं विकासात्मक गतिविधियों का प्रकाशन किया जाता है।

निजी क्षेत्र द्वारा प्रकाशित समाचार पत्र:

1. कृषक जगत– इस समाचार पत्र की शुरुआत वर्ष 1946 में स्वर्गीय माणिक चन्द्र वोन्द्रिया ने भोपाल (म0प्र0) से की थी वर्तमान में यह 16 पृष्ठीय बहुरंगी तथा टेबुलाइट साईज में प्रकाशित होता है। इसके रवी, खरीफ, बीज, पौद्य संरक्षण, दीपावली आदि विशेषांक अत्यन्त आकर्षक होते हैं। वर्ष में एक बार कृषक डायरी (देनंदिनी) का प्रकाशन होता है। इसमें कृषि, उद्यानिकी, पशुपालन, मत्स्य पालन, कृषि अभियांत्रिकी, वानिकी तथा कृषि आदानों से सम्बन्धित समसामयिक जानकारियां प्रकाशित होती है। वर्तमान में जयपुर (राजस्थान), भोपाल (म0प्र0) तथा रायपुर (छत्तीसगढ़) से इसके संस्करणों का प्रकाशन किया जाता है।
2. कृषक दुनियाँ– इस समाचार पत्र की शुरुआत वर्ष 1975 में भोपाल (म0प्र0) से स्वर्गीय रामचन्द्र श्रीवास्तव ने की थी। सोलह पृष्ठीय समाचार पत्र के अलावा इसके विशेषांक मैग्जीन आकार में प्रकाशित होते हैं तथा कृषक दुनिया डायरी काफी सूचनात्मक एवं रोचक होती है। इसके संस्करण का प्रकाशन भोपाल के अलावा रायपुर (छत्तीसगढ़) से किया जाता है।
3. भूमि निर्माण– यह टेबुलाईट साईज में सोलह पृष्ठीय कृषि आधारित समाचार पत्र है इसका प्रकाशन भोपाल (म0प्र0) से किया जाता है।

4. कृषक दूत– वर्ष 2000 में इसकी शुरुआत भोपाल (म0प्र0) से की गयी। यह सोलह पृष्ठीय बहुरंगी तथा टेबुलाइट आकार का समाचार पत्र है। इसके विशेषांक मैग्जीन आकार में प्रकाशित होते हैं।

5. सिंचित खेती– यह समाचार पत्र मध्यप्रदेश की व्यावसायिक राजधानी इंदौर से प्रकाशित होता है। इसमें कृषि से सम्बन्धित विभिन्न विषयों के उपयोगी आलेख प्रकाशित होते हैं।

6. नई दुनिया– यह राष्ट्रीय समाचार पत्र है। इसमें प्रति सप्ताह के शुक्रवार को एक पृष्ठीय कृषि सम्बन्धित सामग्री प्रकाशित होती है तथा वर्ष में एक बार खरीफ विशेषांक का प्रकाशन होता है जो अत्यन्त संग्रहणीय है। इसका प्रकाशन इंदौर से होता है जिसके प्रधान सम्पादक अभय छजलानी है।

7. नवभारत– इसका मुख्यालय भोपाल है लेकिन वर्तमान में जबलपुर, इंदौर, रायपुर तथा नागपुर से इसका प्रकाशन किया जाता है। इसमें नियमित रूप से कृषि सम्बन्धी सामग्री प्रकाशित होती है।

8. दैनिक भास्कर– इसका भी मुख्यालय भोपाल है लेकिन आज हिन्दी समाचार पत्रों में सर्वाधिक प्रसार संख्या वाला समाचार पत्र बन गया है। मध्यप्रदेश के विभिन्न शहरों से प्रकाशित होने के साथ–साथ यह छत्तीसगढ़, राजस्थान, गुजरात, हरियाणा तथा हिमांचल प्रदेश से इसका प्रकाशन शुरु हो गया है।

9. नवभारत टाइम्स– इसका प्रकाशन दिल्ली से होता है। इसमें नियमित रूप से कृषि तथा उससे सम्बन्धित विषयों के आलेख तथा तकनीकी समाचार प्रकाशित होते हैं।

10. द हिन्दू– अंग्रेजी में प्रकाशित होने वाला यह राष्ट्रीय समाचार पत्र कृषि से सम्बन्धित वैज्ञानिकों, नीति निर्धारकों एवं किसानों में अत्यन्त लोकप्रिय है। इसमें साप्ताहिक आधार पर कृषि सम्बन्धी सामग्री का प्रकाशन किया जाता है।

11. खेती दुनिया– इस पत्र का प्रकाशन पटियाला पंजाब से किया जाता है। यह हिन्दी तथा पंजाबी भाषा में प्रकाशित होता है।

12. एग्रीवाच– इसका प्रकाशन दिल्ली से होता है। इसकी प्रसार संख्या देश के उत्तरी राज्यों में अधिक है।

निजी क्षेत्र में प्रकाशित होने वाली पत्रिकाएं :

1. एग्रीकल्चर टुडे– इसका प्रकाशन दिल्ली से किया जाता है, यह अंग्रेजी तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में प्रकाशित होती है।

2. रूरल इण्डिया स्पेक्ट्रम– यह दिल्ली से प्रकाशित होती है। अंग्रेज़ी भाषा में प्रकाशित होने वाली इस पत्रिका में ग्रामीण विकास, कृषि एवं सहकारिता से सम्बन्धित नवीनतम जानकारी प्रकाशित की जाती है।

3. कृषक जागृति– इसका प्रकाशन भोपाल (म0प्र0) से किया जाता है। यह हिन्दी भाषा में प्रकाशित होती है।

4. विश्व कृषि संचार– इसका प्रकाशन कोटा (राजस्थान) से होता है। यह मासिक पत्रिका है तथा हिन्दी भाषा में प्रकाशित होती है।

5. कृषक श्रृंखला– इस मासिक पत्रिका का प्रकाशन रायपुर (छत्तीसगढ़) से किया जाता है।

6. कृषक वंदना – इस पत्रिका का प्रकाशन जबलपुर (म0प्र0) से होता है। यह मासिक पत्रिका हिन्दी भाषा में प्रकाशित होती है।

7. पाटीदार कृषि– इसका प्रकाशन हिन्दी भाषा में मंदसौर (म0प्र0) से होता है।

8. मध्यभारत कृषक भारती– यह राष्ट्रीय कृषि त्रैमासिक पत्रिका है। यह हिन्दी भाषा की पत्रिका है। इसका प्रकाशन ग्वालियर (म0प्र0) से होता है।

उक्त बातों को ध्यान में रखते हुए कृषि प्रकाशनों के विभिन्न वर्गों को संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है तथा उपर्युक्त तालिका के माध्यम से मुद्रित माध्यमों खासकर समाचार पत्र एवं पत्रिकाओं सम्बन्धी विवरण को प्रस्तुत किया जा रहा है।

कृषि विकास से सम्बन्धित प्रकाशनों की सूची :

1– एग्रीकल्चरल सिचुएशन इन इण्डिया
2– एग्रीकल्चरल इकोनामिक्स रिसर्च रिव्यूज
3– एग्रीकल्चरल रिव्यूज
4– एग्रीकल्चरल साइंस डाइजेस्ट
5– एशियन एग्रीकल्चरल हिस्ट्री
6– भारतीय कृषि अनुसन्धान पत्रिका
7– इण्डियन फारमर डायजेस्ट
8– इण्डियन फार्मिंग (2004)
9– इण्डियन हार्टिकल्चर
10–इण्डियन जर्नल ऑफ एग्रीकल्चर इकोनॉमिक्स
11–इण्डियन ऑफ एनिमल रिसर्च
12–इण्डियन जर्नल आफ डेयरी साइंस
13–इण्डियन जर्नल आफ फिशरीज
14–इण्डियन जर्नल आफ एग्रीकल्चरल साइंसेज

देश के ग्रामीण अंचल में तेजी से बढ़ रही साक्षरता के साथ–साथ मुद्रित माध्यमों के प्रकाशन में तीव्र स्पर्धा शुरु हो गयी है। कृषि प्रधान देश होने के नाते जहाँ दूसरी हरित क्रांति की बात बढ़ रही है वही संचार क्रांति में भी गति आने की पूरी संभावना है। चूँकि मुद्रित माध्यम संग्रहणीय एवं पठनीय होते हैं। इसी लिए आने वाले समय में प्रकाशनों की संख्या में वृद्धि होने के स्पष्ट आसार हैं।

●●●●

*सहायक सूचना एवं जनसंपर्क अधिकारी
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शोध-2

क्रान्तिकारी विद्रोही कवि कबीर का भाषा-वैभव

विनय कुमार शुक्ल 'विद्रोही'*

प्राचीन भारतीय साहित्य से अद्यतन क्षेत्र के साथ विश्व में अद्वितीय सर्जना प्रातिभ के आगार मात्र एक ही रचनाकार हैं, गोस्वामी तुलसीदास। जिन्होंने अपनी विविध रचनाओं के माध्यम से भाषागत समन्वयशीलता की आधारशिला रखी थी, किन्तु इससे पूर्व महात्मा कबीरदास की बानियों में भाषाई समन्वयात्मकता परिलक्षित होती है।

कबीर हिन्दी की किसी भी बोलियों में साखी, सबद, रमैनी लिख सकते थे क्योंकि ''वे वाणी के डिक्टेटर थे, भाषा पर..... जबरदस्त अधिकार था। किन्तु 'पंचमेल' खिचड़ी में ही क्यों लिखा? क्यों कि कबीरदास एक जबरदस्त क्रान्तिकारी पुरुष थे। 'समाज सुधारक के रूप में, सवन्वयकारी के रूप में, हिन्दू–मुस्लिम ऐक्य विधायक के रूप में, विशेष सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता के रूप में और वेदान्त–व्याख्याता दार्शनिक के रूप में भी उनकी चर्चा कम नहीं हुई।' 'वस्तुतः वे व्यक्तिगत साधना के प्रचारक थे आदिगुणों से समन्वित रचनाकार कैसे एक ही बोली, भाषा में लिख सकता था? जो सर्वधर्म समन्वयकारी होगा वही अपनी रचना के लिए अवधी, भोजपुरी, ब्रजभाषा, खड़ीबोली, पंजाबी तथा राजस्थानी आदि का मिश्रित रूप अपनायेगा। यह कबीर की दूरदृष्टि थी यही कारण था कि अपनी काव्यभाषा के कारण उनका कबीर पंथ मध्यकाल के सम्प्रदायों में सर्वाधिक विकासशील एवं जीवन्त बना रहा, जो पूरब पश्चिम से लेकर सम्पूर्ण मध्य भारत मे आच्छादित रहा। कबीर दूसरे ऐसे हिन्दी के अनिर्णीत हिन्दी भाषा और साहित्य के रचनाकार हैं जो चन्दबरदाई के बाद अधिक विवादास्पद रहे हैं; कहीं चंद से भी ज्यादा एक डग आगे।

दूसरा कारण उनकी भाषा वैविध्य का मूल उनका बहुआयामी व्यक्तित्व भी है क्योंकि इस कबीर में एक साथ ज्ञान की गम्भीरता, हठयोग की साधना की कठोरता, दर्शन की नीरसता तथा प्रेम–पयोधि की तरलता का दिग्दर्शन होता है। तर्कशील कलात्मकता, प्रहारक व्यंजकता कवित्व की विदग्धता भी तो कबीर में एक साथ अभिव्यक्त है।

दोहा (दूहा) एक हिन्दी (पुरानी हिन्दी–अपभ्रंश) का एक ऐसा निराला छंद है जिसका प्रवाह 'भाषा' में ही है–

संसकिरतहै कपूजल, भाषा बहता नीर।

'दोहा' के लिए रहीम ने कह भी दिया है– सतसैया के दोहरे ज्यौं नाविक के तीर।

देखन में छोटे लगें घाव करै गम्भीर।।

यद्यपि साखी के लिए ही यह स्वरूप दिखता है। साखी के कुछ दोहा के आधार पर उनकी भाषागत शैलियों का प्रमाणन किया जा सकता है। राजस्थानी शब्दों की बहुलता वाले वाक्य में राजस्थानी भाषा का प्रयोक्ता माना जा सकता है–

अँखियाँ झाई पंथ निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या राम पुकारि पुकारि।।

दूसरा एक और उदाहरण ले सकते हैं– सतगुरु की महिमा अनंत अनंत किया उपकार।
लोचन अनंत अनंत उघाड़िया
अनंत दिखावण हार।।

यहाँ महाप्राणत्व शब्दों का आधिक्य राजस्थानी भाषा प्रयोग का प्रमाण है। खड़ी बोली का स्पष्ट स्वरूप कबीर के इस व्यंग्यात्मक दोहे में भी दृष्टिगत है–

यह ऐसा संसार है जैसा सेमल फूल।
दस दिन के व्यवहार में झूठे रंग न भूल।।

सामान्य अन्वय से ही साधारण वाक्यों की संरचना निर्मित दिखाई देती है, यह खड़ी बोली का दूसरा उदाहरण भी देख सकते हैं–

भारी कहूँ तो बहु डरू हलका कहूँ तो झूठ।
मैं का जानो राम को नैनों कबहुँ न दीठ।।

अवधी के शब्दों का सम्यक दिग्दर्शन भी अनेक पदों रचनाओं में बहुतायत हैं–

माली आवत देखि के कलियाँ करी पुकारि।
फूली–फूली चुनि गईं काल्हि हमारी बारि।।

सम्पूर्ण दोहे की शब्दावली में अवधी के शब्दों से समानता दिखाई देती है। कबीर की भाषा का यही रूप ब्रजभाषा में भी मिलता है–

एकै बूँद एकै मलमूतर, एक चाम एकै गूदा।
एक जोति से सब उत्पन्न को बाभन को सूदा।।

इन तथ्यों के आधार पर कबीर भाषा का ऐक्यस्वरूप निर्धारित कर पाना दुस्साध्य है तथापि उनके कृतियों की भाषागत प्रामाणिता सिद्ध की जा सकती है।

तीसरा कारण उनकी विविध भाषाओं की संभावना अन्वेषित की जा सकती है। आलोचकों ने कबीरपंथ की कुल 128 शाखाएँ सम्पूर्ण भारत में विद्यमान मानते हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक महंथों ने भी कबीर के नाम से रचनाएं किये हैं। जो समालोचकों ने प्रक्षेप माना है। इसीलिए पीछे यह 'बीजक' भारी भरकम बनता गया– छः लाख छानवे सहस्र रमैनी एक जीभ पर होय। भारत के विविध क्षेत्रों में स्थापित शताधिक कबीर सम्प्रदायों से आगत साखी, सबद और रमैनियों की भाषा मिश्रित होती गई। अतः इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता है।

चतुर्थ अन्तिम कारण यह भी प्रतीत होता है कि कबीर एक धर्म, एक जाति या एक भाषा के न होकर, नहीं रहना चाहते थे। यही कारण था कि वे अपनी एक स्थायी भाषा को नहीं स्वीकार सके। यही उनके भाषा की समन्वयशीलता थी जो पंचमेल खिचड़ी या सधुक्कड़ी भाषा बनकर रह गयी। इस सन्दर्भ में मिश्रबन्धुओं ने कबीर की

काव्यभाषा के सन्दर्भ में 'हिन्दी नवरत्न' ग्रन्थ में कबीर को सातवें स्थान पर स्थापित करते हुए लिखा है– साधारणतः आपकी (कबीर की) भाषा बनारस की है।

संत कबीर की कविता में उनकी कबीरता का प्रस्फुटन भाषिक सर्जनात्मकता में ही मिलती है। उनके काव्यशैली का यह वैशिष्ट्य है कि उनकी भाषा में तेज धार थी जो उनके निर्भीक–साहस का परिचायक है जिसमें उनके कविताई की अक्खड़ता और गालियाँ भी हैं। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए आधुनिक समीक्षक डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी जी ने लिखा है– 'गाली के बाद भाषा का क्षेत्र चुक जाता है, मारपीट शुरू हो जाती है। इधर कविता, जो भाषा का अधिकतम सर्जनात्मक रूप है, पहले मंत्र रहता है। एक तरफ मंत्र दूसरी तरफ मारपीट, इनके बीच भाषिक प्रयोग के विविध रंग हैं। कबीर की विशिष्ट रचनात्मकता इस बात में है कि उन्होंने कविता और गाली के विरोधी सिरों को एक दूसरे से मिला दिया है। डॉट फटकार और गाली (मुल्ला मुनरे क्या चढ़हि..... जे तू बाभन) को कविता में रूपान्तरित कर देना, यह कबीर के निर्भीक रचना विधान की ही उपलब्धि है।

अपने 'मध्यकालीन हिन्दी काव्य भाषा' में डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भोजपुरी को ही कविता की मूलभाषा स्वीकार करते हुए लिखा है– 'हमारी बोली पूर्वी (रंग लिए) है पर उसे कोई पहचान नहीं पाता (क्योंकि काव्यभाषा मूलतः और स्पष्टतः ब्रजभाषा है) हमारी अपनी बोली (के तत्व) वही परिलक्षित कर सकता है जो पूरब का हो।

कबीर की भाषा–समन्वय इतना गूढ है कि आज तक इसे एक भाषा का रूप किसी भाषा शास्त्रीय समीक्षक निर्धारित नहीं कर सके। उनका सम्प्रदाय सब के लिए था और सभी भाषा के लिए उनका काव्य था। यह उनके बहुआयामी प्रतिभा का परिचायक है। उनका समग्र काव्य चिन्तन भारतीय जातीयता का सम्बोधक है जिसमें राष्ट्रीयता की पहचान है, ही साथ ही क्षेत्रीयता का बाहुल्य भी देखा जा सकता है। संत साहित्य के मर्मज्ञ आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर की भाषा को राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य व समन्वयात्मक रूप में अवधी, भोजपुरी, ब्रजभाषा, खड़ीबोली, पंजाबी तथा राजस्थानी भाषाओं को दिखाया है। इन्होंने कबीर की भाषा का रूप पूर्वी माना है– 'उनके सर्वप्रथम प्रमुख प्रचारक कबीर साहब थे जो काशी नगरी के निवासी थे और जिनकी बोली भोजपुरी थी। अपनी बोली को उन्होंने अपनी एक साखी में पूरबी बतलाया है। जिसका अभिप्राय आध्यात्मिक समझा जाता था किन्तु जिसका साधारण अर्थ पूर्वी बोली है।

कबीर कहीं–कहीं गोरख से भी आगे निकल गये हैं किन्तु गोरख और कबीर दोनों ही एक ही भाषिक परम्परा के पोषक हैं, दोनों में प्रहार है और आक्रमण भी, दोनों के तलवार में तेज है, धार भी। संत रैदास की भाँति विनयशील भाष का नम्रता का प्रकाश परिलक्षित नहीं होता।

कबीर की अप्रस्तुत योजना अत्यन्त निराली है। कुछ सत्य अनुभूतियों की अभिव्यंजना अत्यन्त मार्मिक बन पड़ी है, शब्द निर्झर की भाँति प्रवाहमान तो हैं किन्तु भाव की गूढ़ता कुछ सरल तो कुछ विशेष गम्भीर बन गये हैं। इनके काव्य में रूपकों का अम्बार पड़ा है। भावभिव्यक्ति के लिए कबीर ने साभिप्राय उपमान प्रयुक्त किया है–

पानी केरा बुदबुदा अस मानुस की जाति।
देखत ही छिप जाइगे ज्यौ परभाति।।

ऐ नाना उपमानों को निर्गुण रूप के लिए प्रस्तुत करके अद्वितीय अप्रस्तुतों की योजना की है यह कबीर की काव्यकला ही है। इस दृष्टि से कबीर में एक अन्य प्रतिभाशीलता थी वह चित्रात्मकता। कबीर पूर्ण रूपेण अपने कथ्य की अभिव्यक्ति के लिए जिन शब्दों को प्रयोग में लाया वह अपने सी व्यंजना के रूप में व्यक्त हुआ। वह उनके शब्द शिल्पीगुण का उद्भावक है। उनके शब्दों का अर्थ बेजोड़ है जिससे अनेक अर्थों का प्रस्फुटन होता है। शब्दों का वैविध्य स्वरूप संगीतात्मक, नादात्मक व अनेकवृत्तात्मक है। यह शास्त्रीय के अनायास रंग से संयुक्त है–

दीपक दीया तेज भरि बाती दई अघट्ट।
पूरा किया विषाहुणाँ बहुरि न आऊँ हट्ट।।

इस दृष्टि से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'बुद्धचरित' की भूमिका में पंचारंगी या पंच मेल भाषा का कथन कबीर की भाषासमन्वयशीलता को ही इंगित करता है– 'कबीरदास ने यद्यपि पंचरंगी मिली–जुली भाषा का व्यवहार किया है जिसमें ब्रजभाषा क्या उस खड़ी बोली या पंजाबी तक का पूरा–पूरा मेल है जो पंथवालों की सधुक्कड़ी भाषा हुई, पर पूरबी भाषा की झलक उसमें अधिक है।'

बीजक भाषा के सन्दर्भ में उन्होंने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में इस प्रकार लिखा है– 'साम्प्रदायिक शिक्षा और सिद्धान्त के उपदेश मुख्यतः 'साखी' के भीतर है जो दोहों में हैं। इसकी भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी, पंजाबी मिली–जुली बोली पर रमैनी और सबद में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं–कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है।'

आचार्य शुक्ल से पूर्व कबीर सम्प्रदाय के महंथ विचारदास शास्त्री ने कबीर की भाषा पर विचार करते हुए बीजक के प्रकाशन में लिखा है– 'इस ग्रंथ को कबीर साहब ने पूर्वी भाषा में कहा है..... जैसाकि उनका वचन है–

बोली हमारी पूरब की हमें नहि कोय।
हमकों तो सोई लखें धुर पूरब का होय।।'

यद्यपि डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने कबीर की भाषा पर 'भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी' नामक पुस्तक में इन्हीं पक्षों पर विचार करते हुए लिखा है– 'भारत के महान् संत कवि कबीर (पन्द्रहवीं शती) के प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों में उपलब्ध उनके काव्य की भाषा (सोलहवीं शती) सूरदास की विशुद्ध ब्रजभाषा न होकर एक मिश्रित बोली है वह हिन्दी (हिन्दुस्थानी) तथा ब्रजभाषा का एक मिश्रित रूप है।'

अंग्रेजी के प्रसिद्ध विद्वान ने कबीर की भाषा को क्षेत्रीयता का स्वरूप प्रदान करते हुए अपना मन्तव्य इस प्रकार दिया है– 'कबीर की बोली बनारस, मिर्जापुर एवं गोरखपुर के आसपास की है।' रेवरेंडसाहब के तथ्य को आ ी भाषा में प्रसिद्ध भाषा शास्त्री डॉ. उदयनारायण तिवारी

से लिखा गया 'कबीर' का अनेक क्षेत्रों में अपूर्ण कृति ज्ञात होती है। एक समर्थ समीक्षक का कर्त्तव्य होता है कि कृति के साथ रचनाकार का सम्यक निर्वहन। शायद, कुछ अधूरा ही लगता है, यह भाषा के क्षेत्र में अधिक अधूरा है। कई बार 'जबरदस्त–जबरदस्त' द्विवेदी जी कहते हैं मानों कबीर को साहित्य का पत्थर बना डालेंगे। भाषा के संदर्भ में साफगोई निर्णय नहीं है सब लीपा–पोती ही, केवल प्रशंसा ही प्रशंसा। साफ चोट करने वाली भाषा बिना कुछ कहे कह देने वाली शैली यह भाषा झकझोर देने वाली है, भाषा से कहलवा लिया भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है, जैसी ताकत कबीर की भाषा में है अपने इस आवर्तक वाक्यशैली में आचार्य प्रवर उलझ गये, निकल नहीं पाये। अतः भाषाविवेचन के क्षेत्र में पल्ला झाड़कर चले जाते हैं। उदाहरणों के साथ भाषा का क्षेत्र विषय आदि अपूर्ण छोड़ गये हैं बस इतना ही पर्याप्त समझा जाता है– 'भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसी रूप में कहलवा लिया बन गया तो सीधे–सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार किसी नजर आती है। उसमें मानों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नहीं कर सके और अकह कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहत कम लेखकों में पाई जाती है।' पुस्तक के 'उपसंहार' में द्विवेदी जी ने इतना कहकर ऐसे 'जबरदस्त' रचनाकार की भाषा का मूल्यांकन का इति श्री कर दिया जो समर्थ आलोच्य दृष्टि का सूचक नहीं है। जिस प्रकार अन्य कबीर मीमांसकों ने अपने स्पष्ट भाषा सम्बन्धी विचार दिये हैं। वैस वक्तव्यों से विरत दिखते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने हिन्दी साहित्य की भूमिका' में पुनः कबीर की भाषा शक्ति का पुनराख्यान करते हैं– 'कविता करना उनका लक्ष्य नहीं था फिर भी उनकी उक्तियों में कवित्व की ऊँची से ऊँची चीज प्राप्य है।..... भाषा उनका लक्ष्य नहीं था और अनजाने में वे भाषा की सृष्टि कर रहे थे।'

डॉ. विजयेन्द्र स्नातक द्वारा संपादित 'कबीर' नामक पुस्तक में समीक्षक डॉ. गोविन्द त्रिमुणायत ने कबीर का 'अभिव्यंजना कौशल' नामक लेख में प्राचीनआलोचकों की भांति सधुक्कड़ी भाषा मान लिया है जिसमें पंजाबीपन और भोजपुरी के प्रभाव दिखाई देते हैं तथा भाषागत विभिन्न अष्टक प्रवृत्तियों को भी दिखा दिया है किनतु एक साथ आचार्यद्वय पं. रामचन्द्र शुक्ल की 'सधुक्कड़ी' शब्दों का जहां बार–बार प्रयोग करते हैं वहीं डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी की शब्दावली 'भाषा पर एकाधिकार जैसी शैली का' भी प्रयोग किया है– 'कबीर की भाषा पूर्ण सधुक्कड़ी है। उसमें किसी प्रकार का मिथ्या क्लिष्टत्व नहीं है, वह बिल्कुल सीधी–सादी और सरल है। उसमें व्यर्थ के अलंकार नहीं मिलेंगे। उनकी अभिव्यक्ति का स्वाभाविकता ही नही भाषा का सौष्ठव है।'

इसी कबीर नामक पुस्तक मे प्रसिद्ध भाषाशास्त्री डॉ. भोलानाथ तिवारी ने कबीर की भाषा पर गम्भीर चिन्तन के साथ कहा है– 'कबीर की रचनाओं के प्रमुख तीन पाठ हमारे सामने हैं बीजक, संतकबीर (या गुरुग्रंथ साहब) और कबीर ग्रन्थावली'। आगे इन तीनों पाठों की भिन–भिन्न भाषाएं घोषित किये हैं– 'निष्कर्ष यह निकलता है कि कबीर की रचनाएं आज जिस रूप में प्राप्त हैं उनमें ब्रज, राजस्थानी, खड़ीबोली, अवधी का प्राधान्य है और इसमें भोजपुरी के अंश हैं।

अद्वैत दर्शन का इतना बड़ा चिंतक सम्पूर्ण संत काव्यधारा में नहीं हुआ है जिसका ज्ञान उपनिषदीय परम्परा के समतुल्य है उसकी भाषा संस्कृत भी हो सकती थी किन्तु वह अपने जीवन को लोकपक्ष से सम्पृक्त रखा तथ शास्त्रीय का अदम्य बोध से युक्त लौकिकता से सम्बद्ध होकर विविध लोकभाषाओं में अपनी विचार कणिका को उद्भाषित किया यह न की लोकपक्ष की प्रबलता है तथा भाषा वैविध्य की महनीयता हैं और बोलियों की समन्वयात्मकता है। वाणी की विदग्धता है। सामाजिक समरसता का अमृतत्व है। यह उद्याम काव्य ललाम सबको संकर्षित करता चला आ रहा है। समाज के वर्गों में एकता का सूत्रधार मध्यकालीन पृष्ठभूमि का यह सजग प्रहर है। जिसने समाज के विविध पक्षों में समन्वय लाने का असफल निरर्थक प्रयास तो किया किन्तु वह काव्यभाषा के क्षेत्र में सफल समन्वयशीलता स्थापित की।

संदर्भ–

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी– कबीर
2. डॉ. श्यामसुन्दरदास, कबीर ग्रंथावली–साखी
3. पं. विद्यानिवास मिश्र, रहीम ग्रंथावली
4. डॉ. शुकदेव सिंह, कबीर बीजक का भाषाशास्त्रीय अद्धमन–प्रस्तावना
5. प्रो. युगेश्वर, कबीर समग्र– प्रकाशकीय, पृ0 3
6. मिश्रबन्धु, हिन्दी नवरत्न
7 डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, भक्तिकाव्य
8. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, कबीर साहित्य की परख
9. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बुद्धचरित, भूमिका
10. डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी, भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी
11. डॉ. उदयनारायण तिवारी, भोजपुरी भाषा और साहित्य प्र0ख0, हिन्दी अनुशीलन
12. डॉ. ममता बदल जायसवाल, कबीर की भाषा
13. डॉ. बाबूराम सक्सेना, दक्खिनी हिन्दी
14. चन्द बरदायी, पृथ्वीराजरासो
15. डॉ. रामकुमार वर्मा, संत कबीर
16. डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास
17. डॉ. शुकदेव सिंह, कबीर बीजक का भाषाशास्त्रीय अध्ययन (प्रस्तावना)
18. डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, कबीर

●●●●

शोध छात्र,
हिन्दी विभाग, बी.एच.यू.,
वाराणसी

ने तथैव मानते हुए लिखा है– 'वास्तव में कबीर की मातृभाषा बनारसी बोली थी, जो भोजपुरी का ही एक रूप है।' यद्यपि इस मत के प्रतिपक्ष में डॉ. माताबदल जायसवाल दिखाई देते हैं उन्होंने अपने एक लेख में खड़ीबोली को ही कबीर ग्रंथावली का मूलाधार बोली स्वीकार किया है तथा कबीर की काव्यभाषा को तत्कालीन हिन्दवी की संज्ञा दी है।' उपर्युक्त दोनों कथनों में अल्पप्रतिपरिवर्तन करते हुए डॉ. शंकर प्रसाद सिंह ने लिखा है– 'कबीर आदि संतों की रचनाएँ जो मुख्यतः भोजपुरी में थी, अवधी की रचनाएँ समझी गई।'

यह सर्वश्रुतिगोचर है कि कबीर का प्रारम्भिक जीवन अधिकांशतः काशी में व्यतीत हुआ है और उत्तरार्थ या अन्तिम मृत्युकाल के समय मगहर में बीता है। अतः दोनों क्षेत्र भाषा की दृष्टि से क्रमशः भोजपुरी और अवधी का ही क्षेत्र माना जाता है। अतएव विद्वानों ने सत्य ही भोजपुरी और अवधी भाषा का कवि कबीर को स्वीकार किया है किन्तु विशुद्धतः एकाकी भाषा के कवि कबीर कभी नहीं हुए उसका प्रमुख कारण उनका संत जीवन था जो अधिकांशतः देशाटन करते रहते थे। ये लोकोक्तियाँ सत्य ही चरितार्थ होती हैं– 'जहाँ साँझ तहाँ बिहान' तो कबीर के ऐसे यायावरी जीवनके लिए यह भी युक्ति संगत प्रतीत होता है– कोस–कोस पर पानी। चार कोस पर बानी। ऐसे अलमस्त कबीर के जीवन में अनेक झंझावात आये होंगे और अनेक भाषाओं का समावेश हुआ होगा। जहाँ कबीर को भोजपुरी और अवधी का कवि माना जा रहा था वहीं डॉ. बाबूराम सक्सेना ने कबीर को अवधी का प्रथम संतकवि घोषित किया है। इसी क्षेत्रीय विवाद का आलम्ब लेकर सबसे अधिक प्रबल शब्दों में 'ढोलामारू रा दूहा' के सम्पादकद्वय राम सिंह तथा सूर्यकिरण पारीक ने कबीर की भाषा के विषय में अपना अभिमत देते हुए लिखा है– 'कबीर की भाषा राजस्थानी है एवं कबीर को वैसा ही राजस्थानी का कवि कहा जा सकता है जैसा कि ढोला मारू रा दूहा के काव्यकर्त्ता को'।

कबीर के भाषा की समस्या अद्यावधिपर्यन्त यथावत है। यद्यपि शताधिक शोध ग्रंथ प्रकाशित हुए किन्तु अभी भी भाषा सम्बन्धी मतैक्यता नहीं हुई क्योंकि इसके दो वर्ग विद्वानों में प्रतिष्ठित हैं। एक वर्ग वह जो कबीर को किसी एक भाषा बोली का कवि मानते हैं तथा दूसरी वह जो कबीर को विभिन्न हिन्दी की बोलियों का कवि स्वीकार करते हैं। तथापि मिश्रित बोलियों की भाषा वाले कबीर को मानने वाले सर्वाधिक हैं। यह शतशः प्रमाण्य भी है।

कबीर अपनी भाषा को पूर्वी कहते हैं किन्तु भाषा की कसौटी पर उनका काव्य प्रामाणिक सिद्ध नहीं होता है। जायसी अवधी और सूर ब्रजभाषा के सिद्ध प्रमाण्य कवि हैं जो तुलसी अपने प्रखर भाषा की प्रतिभा के निकष पर इन दोनों भाषाओं में सर्वश्रेष्ठ कवि प्रतीत होते हैं जिनमें संस्कृत की पारम्परिकता भी दृष्टिगत है परन्तु कबीर की काव्यभाषा इन तीनों से भिन्न 'पृथ्वीराजरासो' की काव्यभाषा के समान अनेक भाषा से युक्त दिखाई देता है। इस सन्दर्भ में कवि चन्द्रवरदाई ने कबीर की भाँति अपनी काव्यभाषा की घोषणा 'पृथ्वीराजरासो' में किया है। जिसमें वे छः भाषाओं को जानते थे तथा अपने महाकाव्य में प्रयोग किये हैं।

कबीर की भाषा के अनिर्णीत पक्ष के सन्दर्भ में 'नागरी प्रचारिणी सभा' के द्वारा प्रकाशित प्रामाणिक ग्रंथ 'कबीर ग्रंथावली' की भूमिका में डॉ. श्यामसुन्दरदास ने लिखा है– 'कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है क्योंकि वह खिचड़ी है..... कबीर में केवल शब्द ही नहीं, क्रियापद, कारक चिह्नादि भी कई भाषाओं के मिलते हैं, क्रिया पदों के रूप अधिकतर ब्रजभाषा और खड़ीबोली के हैं।'

'संत कबीर' नामक ग्रन्थ में साहित्येतिहासकार डॉ. रामकुमार वर्मा ने भी कबीर की भाषा पर अपना स्पष्ट विचार दिया है– 'कबीर के काव्य को व्याकरण पूर्वी हिन्दी का रूप ही लिये हुए है। उसमें स्थान–स्थान पर पंजाबी प्रभाव अवश्य दृष्टिगत होता है।' उन्होंने पुनः अपने प्रसिद्ध 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में इसी मत की पुष्टि की है– यही बात प्रसिद्ध है कि कबीर शिक्षित न थे अतएव बनारसी बोली के अतिरिक्त अन्य किसी साहित्यिक भाषा में रचना करना उनके लिए संभव न था। यह 'बनारसी बोली' अथवा उस समय की भोजपुरी केवल प्रान्तीय व्यवहार की भाषा थी।'

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी की आलोचक दृष्टि संवेदना ने कबीर की भाषा में संवेदना की खोज करते हुए 'हिन्दी साहित्य की संवेदना का विकास' में लिखा है– 'पूरब में भोजपुरी से लेकर पश्चिम में राजस्थानी तक उनका अधिक संवेदनात्मक विस्तार है।' अर्थात् चतुर्वेदी जी सम्पूर्ण हिन्दी के बोली क्षेत्रों को ही कबीर की भाषा मान लेते हैं। कुछ लोगों ने कबीर के भाषा को इतनी खींचा तानी की कि इसे मैथिली (डॉ. सुभाष झा) और बंगला भाषा (डॉ. क्षितिमोहन सेन) के रंग से रखने का प्रयास हुआ।

'पूर्वी क्षेत्र' के कबीर आलोचक डॉ. शुकदेव सिंह ने काशी निवासी कबीर की भाषा को पूर्वी बताया है जो बनारस की जनपदीय भाषा है– 'बीजक की भाषा मध्यकालीन हिन्दी भाषा के प्रवाह में एक ऐसे द्वीप की तरह है जिसमें आस–पास ब्रज की अवधी की धाराएँ बह रही हैं लेकिन जिसका कण–कण प्राचीन भोजपुरी के जल से आर्द्र है।' डॉ. शुकदेव सिंह ने अपने इस शोध ग्रंथ के द्वारा बीजक की भाषा का वैज्ञानिक निकष पर सिद्ध करके भाषा के विवादास्पद स्वरूप को विराम देने का प्रयत्न किया है। इस कृति के विश्लेषण–विवेचन से कबीर की भाषा का तमस अनावृत्त हुआ है। लेखक ने वह भी सिद्ध करने का प्रयास किया है कि कबीर की भाषा पूर्वीभाषा है, खासकर 'खरुस बनारसी बोली' कबीर को समझने–समझाने का श्रेय प्राप्त आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' नामक पुस्तक में 'कबीर की व्याख्या मात्र भाषण–शैली में 'अहोरूपम् अहोध्वनि' में ही कर दी है न कि समीक्षक दृष्टि से तात्विक विवेचना की तथा यहाँ भाषा के सन्दर्भ में अधिक अछूता रह गया है। किसी विषय की पूर्ण संस्थापना तथा संभव नहीं हो पाता जब व्यक्ति पैजामा से बाहर होता है। प्रतिपक्ष की दृष्टि

शोध-3

वैदिक संहिताओं में शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्ययों का विवेचनात्मक अध्ययन

प्रवीण कुमार तिवारी*
डॉ0 सुनील कुमार सिंह**

1:0 अध्ययन की पृष्ठभूमि– आम बोलचाल में जब यह कहा जाता है कि 'यह महात्मा बुद्ध की शिक्षा है' तब हमारा आशय किसी विषयवस्तु के रूप में शिक्षा से होता है। जब यह कहा जाता है कि 'मेरी शिक्षा चल रही है' तब निश्चय ही शिक्षा को प्रक्रिया के रूप में व्यक्त किया जाता है और जब कोई यह कहता है कि 'मैंने शिक्षा प्राप्त की है' अर्थात् शिक्षा धारण करने की बात की जाती है तब संभवतः हम उस अवबोध या अनुभूति की बात करते हैं जो शिक्षा रूपी प्रक्रिया द्वारा किसी विषयवस्तु के सीखे जाने या आत्मसात करने के बाद प्राप्त होती है। इस प्रकार तीन आयामों (विषयवस्तु के रूप में शिक्षा, प्रक्रिया के रूप में शिक्षा तथा अनुभूति के रूप में शिक्षा) के अन्तर्गत शिक्षा की बात की जाती है। आमतौर पर शिक्षा के इन आयामों से सम्बन्धित विद्या, ज्ञान आदि कई समानार्थी शब्दों का प्रयोग होता है। इन शब्दों का प्रयोग करते समय यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इन शब्दों की व्युत्पत्ति कैसे हुयी? इनका प्रचलन कब से शुरु हुआ?क्या अन्य शब्द भी शिक्षा के इन अर्थों के बोधक हैं?ये शब्द शिक्षा के किन आयामों से सम्बन्धित हैं?किन रूपों में इनका प्रयोग सही माना जाय? आदि। चूँकि भारतीय परम्परा में वेदों को ज्ञान का मूल श्रोत माना जाता है। अतः शोधकर्ता में इन सम्प्रत्ययों की व्युत्पत्ति आदि जिज्ञासा की पूर्ति हेतु आदि ग्रन्थ वैदिक संहिताओं के अध्ययन् हेतु चुना। इस संबंध में शोधकर्ता ने संबंधित शोध व शोधोत्तर साहित्य का अध्ययन किया।

शोध व शोधोत्तर सम्बन्धित साहित्य के सर्वेक्षण द्वारा यह ज्ञात हुआ कि प्राचीनतम ग्रन्थों में से प्रमुख वैदिक संहिताओं में शिक्षा सम्प्रत्यय को स्पष्ट करने, उसके अन्य समानार्थी सम्प्रत्ययों को उद्भासित करने व विवेचना करने संबंधी शोधकार्य अनुपलब्ध है।

2:0 समस्या कथन– उपर्युक्त जिज्ञासा जनित प्रश्नों के समाधान हेतु अधोलिखित समस्या कथन का निर्धारण किया गया –

वैदिक संहिताओं में शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्ययों का विवेचनात्मक अध्ययन–

3:0 शोध शीर्षक के अन्तर्गत आये पदों की संक्रियात्मक परिभाषा :

3:1 वैदिक संहिताएँ : इसका तात्पर्य ऋग्वेदीय, सामवेदीय, यजुर्वेदीय तथा अथर्ववेदीय परम्परा के उपलब्ध व प्रामाणिक 12 संहिता ग्रंथों से है। इनमें ऋग्वेदीय परम्परा की शाकल संहिता, कृष्ण यजुर्वेदीय परम्परा की मैत्रायणी, काठक, कपिष्ठलकउ तथा तैत्तिरीय संहिताएँ; शुक्ल यजुर्वेदीय परम्परा की माध्यन्दिन तथा काण्व संहिताएँ, सामवेदीय परम्परा की कौथुम, राणायनीय तथा जैमिनीय संहिताएँ एवं अथर्ववेदीय परम्परा की शौनकीय तथा पैप्पलाद संहिताएँ हैं।

3:2 शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्यय : इसका तात्पर्य शिक्षा एवं उसके पर्यायवाची शब्दों से है। इसके तीन आयाम हैं जो संज्ञार्थक हैं। पहला आयाम विषयवस्तु रूपी शिक्षा का बोधक है जिसे सीखा या सिखाया जाता है। दूसरा आयाम सीखने–सीखाने की प्रक्रिया के रूप में 'शिक्षा' को व्यक्त करता है और तीसरा आयाम उस अवबोध या अनुभूति रूपी शिक्षा का बोधक है जो किसी विषयवस्तु को शिक्षा की प्रक्रिया द्वारा आत्मसात करने पर होता है।

3:3 विवेचनात्मक अध्ययन : इसका अभिप्राय शिक्षा एवं उसके समानार्थी सम्प्रत्ययों की जाँच एवं व्याख्या से है।

4:0 अध्ययन के उद्देश्य : प्रस्तुत अध्यन के निम्न उद्देश्य थे :

1 वैदिक संहिताओं में उद्धृत शिक्षा एवं इसके समानार्थी सम्प्रत्ययों की पहचान करना।

2 वैदिक संहिताओं में उद्धृत शिक्षा एवं उसके समानार्थी सम्प्रत्ययों की विवेचना करना।

5:0 अध्ययन प्रविधि :

5:1 शोध प्रकार : प्रस्तुत शोध गुणात्मक प्रकार का शोध है।

5:2 शोध विधि : प्रस्तुत शोध में विषयवस्तु विश्लेषण विधि का प्रयोग किया गया है। विवेचना के लिए संबंधात्मक विषयवस्तु विश्लेषण विधि प्रयुक्त हुई है।

5:3 विषयवस्तु विश्लेषण की इकाई : शिक्षा के अर्थ में आया हुआ सम्प्रत्यय।

5:4 समष्टि : प्रस्तुत अध्ययन में उपलब्ध व प्रामाणिक कुल बारह वैदिक संहिताएँ समष्टि के रूप में हैं। इनमें ऋग्वेदीय परम्परा की शाकल संहिता; कृष्ण यजुर्वेदीय परम्परा की मैत्रायणी, काठक, कपिष्ठलकठ तथा तैत्तिरीय संहिताएँ; शुक्ल यजुर्वेदीय परम्परा की माध्यन्दिन तथा काण्व संहिताएँ; सामवेदीय परंपरा की कौथुम, राणायनीय तथा जैमिनीय संहिताएँ एवं अथर्ववेदीय परम्परा की शौनकीय तथा पैप्पलाद संहिताएँ हैं।

5:5 प्रतिदर्श चयन विधि एवं प्रतिदर्श : विषय विशेषज्ञों के अभिमत के आधार पर निर्णयात्मक उद्देश्यपूर्ण प्रतिदर्श चयन विधि का प्रयोग करते हुए निम्न 5 संहिताओं का चयन किया गया। ऋग्वेदीय परम्परा की शाकल संहिता, कृष्ण यजुर्वेदीय परम्परा की तैत्तिरीय संहिता, शुक्ल यजुर्वेदीय परम्परा की माध्यन्दिन संहिता, सामवेदीय परम्परा की कौथुम संहिता तथा अथर्ववेदीय परम्परा की शौनकीय संहिता।

5:6 शोध उपकरण : प्रस्तुत शोध में स्वनिर्मित निम्न शोध उपकरणों का प्रयोग किया गया है–

1) प्रतिदर्श चयन हेतु– 'वैदिक संहिता चयन

अभिमतावली'

2) शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्ययों को ज्ञात करने व उनकी विवेचना करने हेतु– 'शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्ययों हेतु वर्गीकृत विवेचनात्मक जाँच सूची'

5:7 प्रदत्त विश्लेषण हेतु प्रयुक्त विधि :

5:7:1 विषयवस्तु विश्लेषण : इस विधि का प्रयोग वैदिक संहिताओं में शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्ययों का पता लगाने व विवेचना करने के लिए किया गया। विषयवस्तु विश्लेषण विधि के विभिन्न प्रकारों में से सम्बन्धात्मक विषयवस्तु विश्लेषण विधि का प्रयोग किया गया है।

6:0 अध्ययन के परिणाम :

6:1 उद्देश्य 1 (वैदिक संहिताओं में उद्धृत शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्ययों की पहचान करना) के संदर्भ में परिणाम :

विषय विशेषज्ञों द्वारा जाँच सूची में अंकित 38 प्रातिपदिकों व धातुओं के 246 विद्यमान रूपों के संबंध में यह सूचना एकत्र की गयी कि वे शिक्षा के समानार्थी हैं या नहीं?संबंधित विद्यमान रुप (आवृत्ति) के शिक्षा के समानार्थी होने संबंधी 'हाँ' उत्तर के प्रति प्रतिशत् सहमति ज्ञात की गयी। 246 आवृत्तियों में 'हाँ' उत्तर के प्रति 155 आवृत्तियों पर 0 (शून्य) प्रतिशत, 17 आवृत्तियों पर 40 प्रतिशत तथा 74 आवृत्तियों पर 100 प्रतिशत सहमति पायी गयी। 60 प्रतिशत से उपर सहमति को शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्यय के रूप में चयन किये जाने का आधार बनाया गया। इस प्रकार कुल 18 सम्प्रत्ययों के 74 आवृत्तियों की पहचान शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्ययों के रूप में की गयी जो निम्नलिखित हैं–

सारणी संख्या 6:1:1 वैदिक संहिताओं में चिन्हित शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्यय

सम्प्रत्यय	आवृत्तियाँ	संबंधित मन्त्र सं0 व संहिता
प्रकेत	3	शा0– 2/17/7, 7/33/9, 10/7/1
प्रज्ञान	2	मा0– 34/3, 30/10
प्रज्ञाना	1	शौ0–13/2/2
प्रतिबोध	1	शौ0–8/6/15
मन्मन्	6	शा0–8/6/11, 8/44/12, 8/76/6, 9/42/2; कौ0– 2/1/2/17/2; शौ0– 20/115/2
प्रमा	4	शा0– 10/130/3; 9/70/4; मा0– 15/65, शौ0– 10/7/32
प्रवाचन	2	शा0– 4/36/1, 10/35/8
प्रविद्	1	शा0– 3/7/6
वचसी	4	शा0– 6/21/1, 6/49/8; मा0– 34/42; तै0– 1/1/14/2
वचस्या	1	शा0– 4/36/6
विज्ञान	8	मा0 20/9; तै0– 3/4/4/1, 5/7/4/4, 3/3/8/5; शौ0– 15/2/5, 15/2/13, 15/2/19, 15/2/25
विदथ	11	शा0– 1/117/25, 2/12/15, 7/93/3, 8/48/14, 2/39/8; शौ0– 8/1/6, 12/2/22, 12/2/30, 14/1/20, 14/1/21, 20/34/18
विद्मन्	6	शा0– 1/110/6, 1/164/6, 5/87/2, 6/14/5, 7/4/1, 10/88/18
विद्या	8	मा0– 40/12, 40/13, 40/14, 40/14 (दूसरी बार); तै0– 5/1/7/2, 2/1/2/8, 5/1/7/2, शौ0– 6/116/1
वेद	8	शा0– 8/19/5; मा0– 19/78; तै0– 7/5/11/2; शौ0– 10/8/17, 19/68/1, 19/72/1, 4/35/6, 19/9/12;
वेदस्	5	शा0– 4/25/7, 10/99/3, 2/17/6, 3/60/1; मा0– 25/18
सुविज्ञान	2	शा0– 7/104/12; शौ0 8/4/12
सुवेद	1	शा0 4/7/6

कुल आवृत्ति 74

यद्यपि उपरोक्त सम्प्रत्यय वैदिक संहिताओं में अन्य स्थानों पर भी आये हैं लेकिन इन 18 सम्प्रत्ययों की कुल 74 आवृत्तियाँ ही शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्यय के रूप में प्रयुक्त हुयी हैं।

6:2 उद्देश्य 2 (वैदिक संहिताओं में उद्धृत शिक्षा एवं उसके समानार्थी सम्प्रत्ययों की विवेचना करना) के संदर्भ में परिणाम) :

18 सम्प्रत्ययों की 74 आवृत्तियों को शिक्षा के प्रक्रिया, अनुभूति व विषयवस्तु रूपी तीन आयामो वाले वर्गों में विषयविशेषज्ञों द्वारा वर्गीकृत किए जाने संबंधी प्रदत्त के विश्लेषण हेतु फ्लेस्स कप्पा (K) नामक सांख्यिकीय विधि (Wikipedia Sep. 2009) का प्रयोग किया गया। विभिन्न आवृत्तियों को वर्गीकृत किये जाने संबंधी विश्वसनीयता (Inter Rater Reliability) ज्ञात करने हेतु K मान निकाला गया जो 0.8335 आया जो लगभग पूर्ण सहमति (0.81–1.0) की परिसीमा में आता है। इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि विभिन्न विशेषज्ञों के बीच शिक्षा के इन समानार्थी सम्प्रत्ययों को तीन आयामों के अन्तर्गत वर्गीकृत करने के संबंध में लगभग पूर्ण सहमति है। इस सांख्यिकीय विधि द्वारा प्राप्त परिणाम के बाद नीर्मित तालिका से निम्न परिणाम प्राप्त हुए–

1. सीखने–सीखाने की प्रक्रिया के रूप में शिक्षा के लिए वैदिक संहिताओं में निम्नलिखित तीन सम्प्रत्यय प्रयुक्त हुए है जिनकी कुल आवृत्तियाँ 5 हैं–

सारणी : 6:2:1 प्रक्रिया के रूप में शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्यय

सम्प्रत्यय	विद्यमान रूप	संबंधित संहिता व मन्त्र संख्या	आवृत्तियाँ	
			विद्यमान रूप की	कुल
1. प्रमा	प्रमे	शा0 9/70/4	1	1
2. विदथ	विदथम्	श0 1/117/25, शा0 7/93/3	2	3
	विदथे	शा0 2/39/8	1	
3. वेद	वेदेन	शा 8/19/5	1	1
			कुल आवृत्तियाँ	5

2. अनुभूति के रूप में शिक्षा के लिए वैदिक संहिताओं में निम्नलिखित 4 सम्प्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं जिनकी कुल आवृत्तियाँ 8 हैं–

सारणी 6.2.2 अनुभूति के रूप में शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्यय

सम्प्रत्यय	विद्यमान रूप	संबंधित संहिता व मन्त्र संख्या	आवृत्तियाँ	
			विद्यमान रूप की	कुल
1. प्रज्ञान	प्रज्ञानम्	माे 34 / 3	1	1
2. प्रतिबोध	प्रतिबोधेन	शौ0 8 / 6 / 15	1	1
3. विद्मन्	विदमना	शा0 6 / 14 / 5	1	1
4. विद्या	विद्यया	शौ0 6 / 116 / 1	1	5
	विद्याम्	माे 40 / 14; तै0 2 / 1 / 2 / 8	2	
	विद्यायाः	माे 40 / 13	1	
	विद्यायाम्	माे 40 / 12	1	
			कुल आवृत्तियाँ	8

3. विषयवस्तु के रूप में शिक्षा के लिए वैदिक संहिताओं में निम्नलिखित 17 सम्प्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं जिनकी कुल आवृत्तियाँ 61 हैं–

सारणी 6.2.3 विषयवस्तु के रूप में शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्यय

सम्प्रत्यय	विद्यमान रूप	संबंधित संहिता व मन्त्र संख्या	आवृत्तियाँ	
			विद्यमान रूप की	कुल
1. प्रकेत	प्रकेतम्	शा0 2 / 17 / 7	1	3
	प्रकेतैः	शा0 7 / 33 / 9. 10 / 7 / 1	2	
2. प्रज्ञान	प्रज्ञानाय	माे 30 / 10	1	1
3. प्रज्ञाना	प्रज्ञानाम्	शौ0 13 / 2 / 2	1	1
4. मन्मन्	मन्मना	शा0 8 / 6 / 11. 8 / 44 / 12. 8 / 76 / 6. 9 / 42 / 2 कौ0 2 / 1 / 2 / 17 / 2; शौ0 20 / 115 / 2	6	6
5. प्रमा	प्रमा	शा0 10 / 130 / 3; माे 15 / 65; शौ0 10 / 7 / 32	3	3
6. प्रवाचन	प्रवाचनम्	शा0 4 / 36 / 1. 10 / 35 / 8	2	2
7. प्रविद्	प्रविदा	शा0 3 / 7 / 6	1	1
8. वचसी	वचस्या	शा0 6 / 21 / 1. 6 / 49 / 8; माे 34 / 42 तै0 1 / 1 / 14 / 2	4	4
9. वचस्या	वचस्यया	शा0 4 / 36 / 6	1	1
10. विज्ञान	विज्ञानम्	माे 20 / 9; तै0 3 / 4 / 4 / 1. 5 / 7 / 4 / 4; शौ0 15 / 2 / 5. 15 / 2 / 13. 15 / 2 / 19. 15 / 2 / 25	7	8
	विज्ञानेन	तै0 3 / 3 / 8 / 5	1	
11. विदथ	विदथम्	शा0 2 / 12 / 15. 8 / 48 / 14; शौ0 8 / 1 / 6. 12 / 2 / 22. 12 / 2 / 30. 14 / 1 / 20. 14 / 1 / 21. 20 / 34 / 18	8	8
12. विद्मन्	विदमना	शा0 1 / 110 / 6. 5 / 87 / 2. 7 / 4 / 1	3	5
	विदमनैः	शा0 1 / 164 / 6. 10 / 88 / 18	2	
13. विद्या	विद्यया	माे 40 / 14	1	3
	विद्याः	तै0 5 / 1 / 7 / 2	1	
	विद्याभिः	तै0 5 / 1 / 7 / 2	1	
14. वेद	वेदम्	शौ0 10 / 8 / 17. 19 / 68 / 1. 19 / 72 / 1	3	7
	वेदाः	शौ0 4 / 35 / 6. 19 / 9 / 12	2	
	वेदेन	माे 19 / 78	1	
	वेदेभ्यः	तै0 7 / 5 / 11 / 2	1	
15. वेदस्	वेदः	शा0 4 / 25 / 7. 10 / 99 / 3	2	5
	वेदसः	शा0 2 / 17 / 6	1	
	वेदसा	शा0 3 / 60 / 1	1	
	वेदसाम्	माे 25 / 18	1	
16. सुविज्ञान	सुविज्ञानम्	शा0 7 / 104 / 12; 8 / 4 / 12	2	2
17. सुवेद	सुवेदम्	शा0 4 / 7 / 6	1	1
			कुल आवृत्तियाँ	61

सारणी 6.3.2.1 शिक्षा संबंधी क्रिया पद

धातु	क्रिया पद का विद्यमान रूप	आवृत्तियाँ	
		विद्यमान रूप की	कुल
1) ज्ञा	ज्ञेयाः	1	1
2) विद	विद्यातम्	1	10
	विद्याम	8	
	वेदः (वैदिक प्रयोग)	1	
3) शिक्ष	शिक्ष	4	11
	शिक्षतम्	3	
	शिक्षति	1	
	शिक्षते	2	
	शिक्षामि	1	
		कुल आवृत्तियाँ	22

6:3 अवशिष्ट सूचनाओं द्वारा प्राप्त कुछ अन्य परिणाम :

6:3:1 शिक्ष्, विद्, वच् आदि धातुओं से बने शिक्षा की विशेषता बताने वाले निम्नलिखित 11 विशेषण प्राप्त हुए जिनकी कुल आवृत्तियाँ 35 हैं :

सारणी 6:3:1:1 शिक्षा संबंधी विशेषण

विशेषण	अन्तर्निहित धातु	आवृत्तियाँ
उपशिक्षा	शिक्ष्	1
प्रवाच	वच्	1
प्रवाच्य	वच्	17
वक्त्व	वच्	2
वचन	वच्	2
वचोविद्	वच् + विद्	1
वच्यमाना	वच्	2
शिक्षन्	शिक्ष्	2
शिक्षमाण	शिक्ष्	3
सुप्रवाचन	वच्	5
सुवेदना	विद्	1
कुल आवृत्तियाँ	35	

यद्यपि उपरोक्त सारणी में चिन्हित विशेषण अन्य स्थानों पर भी आये हैं परन्तु वहाँ किसी और की विशेषता बता रहे हैं। सिर्फ 35 आवृत्तियाँ ही शिक्षा की विशेषता बताने वाली हैं।

6:3:2 ज्ञा, विद् तथा शिक्ष् इन तीन धातुओं से बने शिक्षा संबंधी निम्नलिखित 9 क्रिया पद प्राप्त हुए जिनकी कुल आवृत्तियाँ 22 हैं :

यद्यपि उपरोक्त सारणी में चिन्हित तीन धातुओं से निर्मित क्रियापद अन्य स्थानों पर भी आये हैं लेकिन वे शिक्षा संबंधी क्रिया के बोधक नहीं हैं। सिर्फ 22 आवृत्तियाँ ही शिक्षा संबंधी क्रिया के बोधक हैं।

6:4 कुछ महत्वपूर्ण परिणाम :

6:4:1 शिक्ष् धातु से बने क्रिया पद व विशेषण तो वैदिक संहिताओं में प्रयुक्त हुए हैं परन्तु एक प्रक्रिया, विषयवस्तु या अनुभूति के रूप में संज्ञार्थक 'शिक्षा' शब्द अध्ययन हेतु चयनित पाँचों वैदिक संहिताओं में एक बार भी नहीं आया है।

6:4:2 स्वतंत्र रूप में 'ज्ञान' शब्द भी इन वैदिक संहिताओं में एक बार भी नहीं आया है। प्र, वि तथा सु+वि उपसर्गों से युक्त होकर ही ज्ञान शब्द आया है।

6:4:3 विद्या शब्द शाकल एवं कौथुम संहिता में एक बार भी नहीं आया है।

8:0 अध्ययन का निष्कर्ष :

प्रस्तुत अध्ययन के परिणामों पर आधारित निम्नलिखित निष्कर्ष निकले :

1. वैदिक संहिताओं में शिक्षा के 18 समानार्थी सम्प्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं जिनकी कुल आवृत्तियाँ 74 हैं।

2. ऋग्वेदीय शाकल संहिता में 13, शुक्ल यजुर्वेदीय माध्यन्दिन संहिता में 6, कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता में 4, सामवेदीय कौथुम संहिता में 1 तथा अथर्ववेदीय शौनकीय संहिता में 9 शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं।

3. वैदिक संहिताओं में सीखने–सिखाने की प्रक्रिया के रूप में 3, अनुभूति के रूप में 4 तथा विषयवस्तु के रूप में 17 शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं।

4. वैदिक संहिताओं में शिक्ष्, वच्, विद् आदि धातु से बने शिक्षा की विशेषता बताने वाले 11 विशेषण प्रयुक्त हुए हैं।

5. ज्ञा, विद् तथा शिक्ष् इन तीन धातुओं से बने शिक्षा संबंधी 9 क्रियापद वैदिक संहिताओं में प्राप्त हुए।

6. एक संज्ञा के रूप में 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग पाँचों वैदिक संहिताओं में से किसी में नहीं हुआ है।

7. स्वतंत्र रूप से 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग पाँचों वैदिक संहिताओं में से किसी में नहीं हुआ है।

8. ऋग्वेदीय शाकल संहिता तथा सामवेदीय कौथुम संहिता में एक संज्ञा के रूप में विद्या का प्रयोग नहीं हुआ है।

9. वैदिक संहिताओं में कित्, ज्ञा, बुध्, मन्, मा, वच् तथा विद् धातुओं से शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्ययों का निर्माण हुआ है।

10. शिक्ष्, धातु से बने संज्ञार्थक शिक्षा का एक भी समानार्थी सम्प्रत्यय वैदिक संहिताओं में प्रयुक्त नहीं हुआ है।

9:0 अध्ययन का शैक्षिक निहितार्थ :

प्रस्तुत अध्ययन से प्राप्त परिणाम एवं निष्कर्ष संहिता काल में प्रचलित शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्ययों की व्युत्पत्ति को स्पष्ट करने में सहायक होगा। साथ ही वैदिक काल के विभिन्न कालवधियों में शिक्षा के इन समानार्थी सम्प्रत्ययों के प्रचलन के काल व स्वरूप को स्पष्ट करने में भी सहायक होगा।

यह अध्ययन भविष्य में होने वाले वैदिक शिक्षा विषयक शोधों को भी एक आधार प्रदान करेगा। पूर्व में इस विषय पर होने वाले शोधों में शिक्षा के कुछ ही समानार्थी सम्प्रत्ययों को आधार बनाया गया है परन्तु इस शोध के द्वारा प्राप्त शिक्षा के सभी समानार्थी सम्प्रत्ययों के आधार पर किये जाने वाला शोधकार्य और व्यापक होगा जिसके द्वारा वैदिक शिक्षा के स्वरूप के संबंध में कुछ नयी बातें प्रकाश में आ सकेंगी।

यह अध्ययन संज्ञार्थक 'शिक्षा' शब्द का प्रचलन कब प्रारंभ हुआ इस संबंध में शोध हेतु प्रेरित करेगा। साथ ही यह शोध वैदिक संहिता रचना काल खण्ड में शिक्षा के समानार्थी सम्प्रत्ययों में होने वाले सम्प्रत्ययात्मक परिवर्तनों को उद्भासित कर सकेगा।

संकेत :

शा0 6/14/5 – ऋग्वेदीय शाकल संहिता, मण्डल 6, सूक्त 14, मंत्र 5
मा0 15/6 – शुक्ल यजुर्वेदीय माध्यन्दिन संहिता, अध्याय 15, मंत्र 6
तै0 4/3/7/1 – कृष्ण यजुर्वेदीय तैतिरीय संहिता, काण्ड 4, प्रपाठक 3, अनुवाक 7, मंत्र 1
कौ0 1/1/2/1/1 – सामवेदीय कौथुम संहिता, पूर्वार्चिक, प्रपाठक 1, द्वितीयार्ध, सूक्त 1, मंत्र 1
कौ0 2/8/3/1 – सामवेदीय कौथुम संहिता, उत्तरार्चिक, प्रपाठक 8, तृतीयार्ध, सूक्त 1, मंत्र 1
शौ0 8/1/6 – अथर्ववेदीय शौनकीय संहिता, काण्ड 8, सूक्त 1, मंत्र 6

●●●●

*शोध छात्र, का.हि.वि.वि.,
शिक्षा संकाय (कमच्छा), वाराणसी
**उपाचार्य, का.हि.वि.वि.,
शिक्षा संकाय (कमच्छा) वाराणसी

शोध-4

मिश्रित माध्यम एवं शैलीगत प्रभाव "समकालीन भारतीय चित्रकला के सन्दर्भ में"

रेनु यादव*

आज कलाकार प्रभावोत्पादकता के लिए अपनी व्यंजना शक्ति की सीमा का इतना व्यापक विस्तार चाहता है और अभिव्यक्ति वैचित्र्य में इतना खो गया है कि वस्तु और रूप विधान को सर्वथा मौलिक ढंग से अनेक रूपों में अभिव्यक्ति करने की इच्छा रखता है। विभिन्न वादों के प्रभाव से आज का चित्रकार अपनी कला को एक नयी दिशा एक नया आयाम प्रदान करने में निरंतर प्रयत्नशील है। यही कारण है कि आज का कलाकार सदा नवीनता की खोज में रहता है।

समकालीन कलाकार सभी पूर्व मान्यताओं को तोड़कर भविष्य की परिकल्पनाओं एवं वैज्ञानिक माध्यम की सोच को लेकर अग्रसर है। इसी वजह से आज की कला का मूल गुण मौलिकता का आग्रह है। कला की यात्रा यथार्थ से आरम्भ होकर अनंत वैज्ञानिक अविष्कारों तक पहुंची है जिसका परिणाम आज की कला में दिखायी देता है। बीसवीं शताब्दी के अंतिम कुछ दशकों की कृतियों का अवलोकन करने के बाद यह कहा जा सकता है कि कला के स्वरूप में तेजी से हो रहे परिवर्तन में कुछ नया भी है और पुनरावृत्ति भी है।

समकालीन कला के परिवर्तन और परिवर्धन का कारण बदलता हुआ परिवेश व वातावरण भी है जिसके कारण कलाकार के भविष्य दृष्टा के आश्चर्यजनक परिणाम देखे गये हैं। निसंदेह इन कलाकारों ने जीवन की विविधता, आकर्षण, दार्शनिकता, रहस्यमयता को अत्यन्त गहराई से आंका है तथा उसकी मूल्यवान अभिव्यक्ति अपने चित्रों के माध्यम से की है।

भारत में आज अनेक प्रकार के माध्यमों में कार्य हो रहा है। उसके प्रयोगों का आशय अर्थपूर्ण प्रतीत होता है। कुछ कलाकारों ने विविध माध्यमों द्वारा कला–जगत में अपनी विशिष्ट पहचान बना ली है। उनकी सृजन क्षमता उतनी ही सक्षम है, जितना माध्यम का प्रयोग इन कलाकारों द्वारा किये गये काम को एक नाम "मिश्रित माध्यम" (मिक्स मीडिया) के अन्तर्गत आने वाली विविधयों के भी विविध नाम दिये गये हैं, जो पृथक–पृथक माध्यमों के कारण है। कागज एवं वस्त्र आदि को चिपकाकर अथवा सिलकर संयोजित करने वाले चित्र 'कोलार्ज' के अंतर्गत रखे जाते है। उदाहरण स्वरूप वैशाली ओक की कृतियां एक तरह से अपनी नई परम्परा बनाती हैं यह परम्परा प्रचलित अर्थों में समकालीनता और पारम्परिकता के मेल से बनी है। कधरी, गुदरी और दरियों के रूप में काम आने वाली पुराने कपड़ों, पटों और ढांचों के संग्रह से वैशाली कभी मूर्त रूपाकार निर्मित करती है तो कभी अमूर्त प्रतिरूपण से नियोजित एक दृश्य सिरजति है। उनकी इन कृतियों में पेंटिंग जैसी रंगीयता है पर वह रंगों से नहीं बनती, धागों के रंगों में उभरती हुई एक सूक्ष्म सी ध्वनि निनादित होती है जो दर्शकों को चौंकाती है। गौर से देखें तो पर्वत, पठार, नदी, आकृतियां, पर्यावरण और भीतर के मानवीय अन्तर प्रवाहों को अभिव्यक्त करती वैशाली बहुत प्रभावित करती है। अन्य कोलार्ज कलाकारों में एस. आर. भूषण और थोटा धारानी के नाम उल्लेखनीय है।

आज कलाकार इससे भी आगे का कुछ नया सोचने लगा है। एक अन्य विधि में गाढ़े अपारदर्शक रंगों, गोंद आदि के मिश्रित प्रयोग से चित्र बनाना शामिल है जो 'ग्वास' विधि के नाम से प्रचलित है।

इससे भी आगे बढ़कर चित्रकार ने प्लास्टर, मिट्टी, इनेमल, मोम, कागज की लुगदी आदि वस्तुओं से उभार देकर चित्र बनाये गये हैं जिसे हम "इम्पेसटो विधि" के नाम से जानते हैं। जैसे DATTATRAYA DINKAR का नाम उल्लेखनीय हैं।

इसी प्रकार के उभार चित्रों में कुछ चित्रकारों ने थर्मोकोल और रंगों के मिश्रित प्रयोग भी किये हैं। इस तरह के उल्लेखनीय कलाकारों में अश्विन मोदी का नाम आता है। कुछ कलाकार धातु की परतों एवं इनेमल का प्रयोग करके अपनी अभिव्यक्ति करते हैं जिसमें धातु की परतों को काटकर या उन पर आघात कर धरातल में डूबते उतरते हुए चिपका दिया जाता हैं जिससे सम्पूर्ण कृति में अमूर्त और लययुक्त प्रभाव उत्पन्न होता है। इस प्रकार के प्रयोगो वासुदेव और विश्वम्भर खन्ना एवं एन. करूणा मूर्ति के कृतियों में देखे जा सकते हैं।

चित्रकार जेराम पटेल और विनोद शाह लकड़ी को धुँआ देकर एवं जलाकर रंगों का प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार मृणालिनी मुखर्जी ने जूट के कल्पनात्मक आकारों को अपनी कृति में स्थान दिया। उनकी आकृतियों में अजन्ता के समान कमनीयता बुनावटीपन, धरातल पर उनकी आकृतियां त्रिआयामी लय को प्रस्तुत करती है। उनके जूट, आकृति का भ्रम उत्पन्न करते हैं। स्पष्ट है कि यदि रंग के स्थान पर कुछ अन्य वस्तु माध्यम के रूप में काम में ली जाये तब भी वस्तु का अपना रंग भी कृति में संवेदन उत्पन्न करने के लिए सहायक होता है।

अन्य प्रयोगों में सुपरिचित माध्यम पच्चीकारी का हैं जिसमें कलाकार बद्रीनारायण ने विशेष कार्य किया। इसमें अनेक प्रयोगों की सम्भावना है। कलाकार रंगास्वामी सांटगन भी मिश्रित माध्यम में कार्य करते रहे हैं।

संबोधन कुछ भी हो किंतु कलाकार को सृजन का आनन्द प्राप्त हुआ और दर्शक पर उसका प्रभाव पड़ा यह अधिक महत्त्वपूर्ण है।

कुछ अन्य माध्यमों के प्रयोग में चित्रकारों ने लकड़ी जलाकर भी रंगों का प्रभाव उत्पन्न करना चाहा है। जिसे ब्लो टार्च एवं ऐकास्टिक विधि आदि नामों से जाना जाता है।

रेत में चित्रा बनाने का प्रारम्भ तो प्राचीन काल से ही हो चुका था। परन्तु इसका गंभीरता से उपयोग नहीं हो सकता है और न ही इसकी संभावनाओं की ओर किसी का ध्यान गया। चित्रकार रामानिक भावसार प्रागैतिहासिक चित्रों के विषय को लेते हुए कैनवस पर रेत से कार्य कर रहे हैं।

यदि त्रिआयामी और द्विआयामी कलाओं को पृथक–पृथक रखना ही उचित है तो उपरोक्त विधियों एवं माध्यमों में चित्र बनाने वाले चित्रकार जो अपने चित्रों में उभार देते हैं, चित्रकारों की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते। उन्हें मूर्तिकारों की श्रेणी में रखना उचित होगा।

किन्तु सच्चाई यह है कि चित्र गुफाओं से उतर कर ताड़पत्रों, कागज, कैनवास और फिर उससे भी आगे कैनवास से उतर कर कहीं भी और कैसे भी बना सकते अर्थात् चित्र आगे भी न जाने किन–किन माध्यमों पर उतर आयें कहना मुश्किल है।

अन्य माध्यम में फिल्म माध्यम (सिनेमा विधा) है। गोपी गजवानी की दो छोटी फिल्में (टाइम और द एंड) इन्हें देखकर इस बात का गहरा एहसास होता है कि कैसे सिनेमा विधा में एक चित्रकार अपना एक रचनात्मक दखल दे सकता है। अन्य कलाकारों में रामेश्वर ब्रूटा रत्न बालीकांत का नाम उल्लेखनीय है जो सिनेमा विधा में कार्यरत है।

1993 में 'स्टेट ऑफ द आर्ट' नामक प्रदर्शनी राष्ट्रीय आधुनिक कला दीर्घा में अहमदाबाद की ''ब्रह्मा'' स्टूडियों के साथ मिलकर आयोजित की गयी थी। जिसमें हुसैन रजा, अकबर पद्म श्री, प्रभाकर बर्वे, लक्ष्मण श्रेष्ठ, मनुपारेख, मनजीत बाबा, नवजोत आल्ताफ तथा अतुल दोदिया के चित्रों को प्रदर्शित किया गया था। इनका मानना है कि कम्प्यूटर में अपार संभावनाएं हैं जिसमें मनचाहा प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है तथा कम्प्यूटर ने हफ्तों की चित्र बनाने की समस्या से मुक्ति दिला दी। विज्ञापन जगत में कम्प्यूटर ने एक प्रकार की प्रिंट क्रांति ला दी है। लेकिन कम्प्यूटर के चित्र हस्तनिर्मित कलाकृतियों की जगह कभी नहीं ले सकते।

अन्य माध्यम में इन्स्टालेशन आर्ट में हेमा उपाध्याय की काक्रोचों की रचना, तथा पोलीथीन की बड़ी–बड़ी थैलियों के फैक्ट्रीनुमा उसमें पंखा लगाकर समस्त पोलीथीन में एक गति एवं वायु की प्रवाह को दर्शाया गया है। अन्य कलाकारों में अरूण कुमार एच जी जो पेशे से बच्चों को खिलौने डिजाईन करते हैं। मुम्बई में एक प्रदर्शनी के लिए जब शहरी जीवन और पर्यावरण पर उन्हें काम करना था तो उन्होंने डिजिटल प्रिंट के साथ बच्चों के खिलौनों के अलावा माचिस की जली तीलियों का भी इस्तेमाल किया।

अन्ततः समकालीन कला के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि आज का कलाकार परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को प्रतिस्थापित कर रहा है। भौतिक द्वन्द्वों ने उसमें असंतोष जागृत कर दिया है। सामाजिक, राजनैतिक, भौतिक अर्थवत्ता ने उनकी चेतना को झकझोर कर रख दिया है और इन्हीं वजह से उसका व्यक्तिवादी 'अहम' मौजूदा स्थितियों से सहमत न होकर कला में सामाजिक क्रांति उपस्थित करना चाहता है जिसके फलस्वरूप जीवन के सत्यों को नवीन दृष्टिकोण से देखने और परखने की इच्छा जागृत हुयी है।

इस युग की सबसे बड़ी विशेषता है कलाकार का अधिक उदात्त तथा स्वतंत्र चिंतन, इसका प्रमुख कारण है कि कलाकार केवल सृजनकर्ता न रहकर स्वतंत्र रूप से निरंतर विभिन्न माध्यमों की ओर अग्रसर हो रहा है। समकालीन कलाकारों का ध्येय समकालीन संदर्भ में विषयों को कलात्मकता एवं स्वतंत्रता के साथ प्रस्तुत करना है जिसके फलस्वरूप वो किसी भी विषय को नवीनता का चोला पहनाकर या किसी भी माध्यम एवं शैली का सम्मिश्रण कर सृजन कर रहा है।

सन्दर्भ–

राम विरंजन समकालीन भारतीय कला, प्रथम संस्करण, निर्मल बुक एजेन्सी, 2003

साखलकर रवि आधुनिक चित्रकला का इतिहास राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी द्वितीय सं0 1985 तृतीय सं0 1989

त्यागी हरि प्रकाश समकालीन कला, ललित कला अकादमी, नई दिल्ली अंक 13, 1989

वसारी जियारजियो बसरी आन टेकनीक

शर्मा डॉ0 सुधारक स्वर्ण रेखा, सचिव ललित कला अकादमी, नई दिल्ली,2005

श्रोत्रिय डॉ0 शुकदेव भारतीय ग्रंथ चित्रण की सामग्री एवं पद्धति प्रथम संस्करण–1997 चित्रायन प्रकाशन, मुजफ्फरनगर

Chawla Rupika Surface and Depth Indian Artists at work, First Published in Viking by Penguin Books India (P) Ltd .1995.

●●●●

*शोध छात्रा

महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

शोध-5

लोकगीत : विश्लेषण एवं महत्व

डॉ0 हिमांशु कुमार*

लोकगीत लोकमानस की अभिव्यक्ति हैं। इसका उपजीव्य लोक साहित्य है। लोक कथाओं, लोक गाथाओं, लोकनाट्य, लोकोक्तियों, मुहावरों एवं मिसालों के अतिरिक्त प्रमुखतः लोकगीत लोक साहित्य के अभिव्यक्ति रूप बनते हैं। लोक में अपनी प्रचुरता तथा व्यापकता के कारण लोकगीतों की प्रधानता स्वतः सिद्ध है। लोकगीतों के विश्लेषण के पूर्व यह समझना आवश्यक है कि लोक क्या है?आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक के सन्दर्भ में इसकी व्यापकता को यों प्रकट किया है– ''लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है, बल्कि नगरों और गांवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रूचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रूचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुयें आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं।''[1] कहने का आशय यह है कि वह अधिसंख्य जनता जो पोथियों के ज्ञान का कम अवलंबन लेती है, गांवों में ही रहती है। वैसे तो जन की व्यापकता नगर ग्राम – समुदाय की जन (लोक) के रूप में विशेष स्वीकृति रही है। विश्वभारती (शान्ति निकेतन) के उड़िया विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष डा0 कुंज बिहारी दास ने लोकगीतों की परिभाषा में लोक' शब्द की भी व्याख्या की है– ''लोकगीत उन लोगों के जीवन की अनायास प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति हैं जो सुसंस्कृत तथा सुसभ्य प्रभावों से बाहर, कम या अधिक रूप में आदिम अवस्था में निवास करते हैं।''[2] कहने का आशय यह है कि अपने प्राकृतिक परिवेश में निवास करने वाली उस अशिक्षित एवं असंस्कृत जनता को लोक कहते हैं, जिसका आचार–विचार एवं जीवन परम्परा युक्त नियमों से नियन्त्रित होता है। कहना न होगा कि ऐसे ही लोगों के साहित्य को लोक साहित्य कहा जाता है। यह साहित्य प्रायः मौखिक होता है तथा परम्परागत रूप से चला आता है। हालांकि यह साहित्य वाचिक परम्परा के रूप में ही विकसित हो रहा है पर कुछ परिनिष्ठित साहित्यकारों का रचना संसार इससे बहुत निकट रूप से जुड़ा है जिसमें लोकवाणियों की विभिन्न अर्थछवियां मौजूद हैं। मैथिली के विद्यापति, ब्रज के सूरदास और आधुनिक युग में भोजपुरी के महेन्द्र मिश्र और भिखारी ठाकुर तथा हरियाणवी के लखमीचंद ऐसे ही कवि हैं। आज भी रचे जा रहे भोजपुरी, अवधी, राजस्थानी, मेवाती, ब्रज एवं हरियाणवी आदि बोलियों के साहित्य में लोक की छटा परिव्याप्त है। लोक में ईसुरी, घाघ, भड्डरी जैसे अनुभव सिद्ध कवियों की उक्तियाँ बहुत प्रचलित हैं।

वही साहित्य जीवन्त समझा जाता है जिसमें मनुष्यों के सुख–दुख, घृणा–प्रेम, राग–द्वेष, विषाद आदि का आनुभूतिक चित्रण होता है। इस दृष्टि से लोक साहित्य जन–जीवन का जीवन्त साहित्य है। वह अनुभूतियों का सहज प्रस्फुटन है। वह जनता के हृदय का उद्‌गार है। वस्तुतः यह लोक साहित्य विराट लोकसंस्कृति का एक अंग है और 'लोकगीत' लोकसाहित्य का एक अंश है। मनुष्य के जीवन की अनिवार्य आवश्यकतायें उसका कर्मक्षेत्र और उसकी समस्यायें जितनी वास्तविक हैं, उतना ही वास्तविक उसका वह मनोजगत है जो अपनी रचनात्मकता से संस्कृति में अपनी अभिव्यक्तियों के विविध रूप दर्शाता है। कहना न होगा कि लोकगीत इसी रचनात्मकता की अभिव्यक्ति हैं।

लोकगीत विभिन्न उत्सवों और ऋतुओं में गाये जाते हैं। विद्वानों ने चिन्तन–मनन के पश्चात लोकगीतों के संस्कार सम्बन्धी गीत, ऋतु सम्बन्धी गीत, व्रत सम्बन्धी गीत, जाति सम्बन्धी गीत, श्रम गीत, देवी–देवताओं के गीत आदि का उल्लेख किया है।

मनुष्य जीवन के सभी कृत्य धर्म से ओत–प्रोत हैं। हमारे शास्त्रों में षोडश संस्कारों का विधान किया गया है परन्तु पुत्र जन्म, मुण्डन, यज्ञोपवीत, विवाह, गवना और मृत्यु, प्रधान संस्कार माने गये हैं। अंतिम को छोड़कर सभी में इन अवसरों पर स्त्रियाँ गीतों को गा–गाकर अपने हार्दिक उल्लास और आनन्द को प्रकट करती हैं। जहां इन गीतों में प्रसन्नता और उत्साह दिखाई पड़ता है, वहाँ मृत्यु गीतों में विषाद की अमिट रेखा उपलब्ध होती है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

पुत्र जन्म के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों को 'सोहर' कहते हैं। कहीं–कहीं उन्हें 'मंगल' भी कहा जाता है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने श्री रामचन्द्र के जन्म के अवसर पर रामचरित मानस में मंगल गाने का उल्लेख किया है –

''गावहिं मंगल मंजुल बानी।
सुनि कलरव कलकंठ लजानी।।''

लोकगीतों को ग्राम्य जीवन का सर्वाधिक प्रामाणिक इतिहास कहा जाता है। ये ग्राम्य जीवन का समाजशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। समाज में स्त्री–पुरूष की समानता को दर्शाना ही आदर्श माना गया है लेकिन इसका व्यवहारीकरण होने में कठिनाइयाँ हैं। शिक्षा एवं जनसम्पर्क के माध्यम से इस संदेश को जनता (लोक) के बीच प्रसारित किया जा रहा है कि लड़के और लड़की में कोई अन्तर नहीं है पर न तो लड़की को लड़के के समान अधिकार प्राप्त हुए हैं और न ही पुत्री को जन्म देने वाली माँ को यथोचित सम्मान मिल पाया है। लंबे समय से नारी इस भेदभाव को सहती आयी है। लोक गीतों में यह वेदना पर्याप्त मुखर हुई है –

"जिस दिन लाडो तेरा जन्म हुआ
हुई ए बज्जर की रात
पहले आले लोंडे सोंगे
लग के चंदन किवाड़
टूटे खटोलै तेरी अम्मा वा पोढ़ै,
बाबुल गहर गंभीर
गुड़ की पात मेरी अम्मा पीवै,
टका भी खरच्या ना जाय
सो सठ दिवले बिटिया बाल धारे हैं,
तो भी गहन अंधेर
जिस दिन लला तेरा जन्म हुआ .....!"

पुत्र के जन्म और पुत्री के जन्म की दो भिन्न स्थितियों की यह मार्मिक तुलना लोकमानस में पैठी: पीढ़ियों का प्रतिपादन है।

विवाह को सबसे प्रसिद्ध और प्रधान संस्कार माना गया है। इसका वर्ण्य विषय बड़ा विस्तृत है। इनमें कहीं तो पुत्री की माता अपनी सयानी लड़की के लिए योग्य वर खोजने का आग्रह करती है तो कहीं पुत्री अपने पिता से सुन्दर वर खोजने की प्रार्थना करती हुई दीखती है। भोजपुरी में कुछ ऐसे गीत पाये जाते हैं, जिनमें वर कन्या के आँगन में आकर बैठा है और वहाँ आने का कारण पूछने पर कहता है कि इस घर में एक कुमारी कन्या है, मैं उससे विवाह करने आया हूं –

"पुरूब से अइले रे जोगी, पछिम कइले जाले
कवन बाबा चौपरिया ए जोगी, वइसे आसन मारी।
हम त बिआहन अइली ए बाबा
तोहार बिटिया कुंआरी।"

भोजपुरी के ही कुछ गीतों में ऐसे गीत भी हैं जिनमें बेटी की विदाई के समय माता–पिता के आंसुओं की तुलना गंगा में आने वाली बाढ़ से की गई है, भाई की पीड़ा व्यक्त की गई है, लेकिन भौजी (भाभी) की कठोरता को व्यंजित किया गया है –

"बाबा के रोअले गंगा बढ़िअइली
आमां के रोअले जमुना ए
भइया के रोअले चरन धोती भीजले,
भउजी के नयनवों ना लोर ए।"

ऋतु सम्बन्धी गीतों में लोक मानस पूर्ण उल्लासित रहता है। विभिन्न ऋतुओं में जन–मन के अनुरंजन के लिए गीतों के गाने की प्रथा बहुत दिन से चली आ रही है। सावन में कजली गीत, फाल्गुन मास में होली गीत, चैत्र मास में चैता गीत, पावस ऋतु में बारह मासा गीत इत्यादि गीत बहुत प्रसिद्ध हैं। चैता गीत का उदाहरण द्रष्टव्य है –

कोई विरहिणी मैथिली महिला कह रही है कि जब चैत (बसन्त) बीत जायेगा तब मेरा मूर्ख पति घर आकर क्या करेगा?आम्र वृक्ष की बौर में टिकोरे (छोटा कच्चा आम) निकल आये, टहनी–टहनी में रस संचार हो गया, परन्तु प्रिय नहीं आया –

"चैत बीति जइयत हो रामा
तब पिया की करे अयतइ।
आरे अमुआ मोजर गेल,
फरि गेल टिकोरवा,
डारे–पाते भेल मतवलवा हो रामा
चैत बीति जयतइ हो रामा
तब पिया की करे अयतइ।"

हमारा जीवन धर्ममय होने के कारण प्रत्येक महीने में कोई न कोई पर्व या त्योहार आकर हमारी धार्मिक चेतना को जागृत करता रहता है। इन अवसरों पर स्त्रियाँ गीत गाती हैं। नाग–पंचमी के गीत, बहुरा, गोधन, पिंडिया, छठी माता के गीत आदि ऐसे ही गीत हैं।

कुछ लोकगीतों को विशिष्ट जाति के लोग ही गाते हैं। ऐसे गीतों में विरहा का प्रमुख स्थान है। यह अहीर जाति के लोगों का जातीय गान है। यह उमंग और उत्साह को जगाता है। दुःसाध (एक अस्पृश्य या परिगणित जाति) लोग 'पचरा' नामक गीत गाते हैं। गड़ेरिया लोग 'सिउरिया' नामक गीत गाते हैं। तेलियों के गीत भी हैं जिन्हें कोल्हू के गीत कहते हैं। चमारों के जातीय गीत बड़े मनोरंजक हैं। इनका प्रधान बाजा 'डफरा' और 'पिपिहरी' है। इनके गीतों में सामाजिक बुराइयों के सम्बन्ध में चुभता हुआ व्यंग्य पाया जाता है।

श्रमगीत वे गीत हैं जो किसी काम को करते हुए गाये जाते हैं। क्या यह सम्भव नहीं है कि थकावट को दूर करने के लिए और काम में मन लगाने के उपक्रम में ही लोकगीतों का जन्म हुआ हो। लोकगीत ग्राम्य जीवन की अभिव्यक्ति का व्यापकतर माध्यम रहे हैं, गांव के स्त्री–पुरूषों का कर्म–चक्र लोकगीतों के साथ–साथ ही घूमता है। चक्की पीसते हुए, खेतों में जुआरा ले जाते हुए, रोपनी करते हुए, सूत कातते हुए, कुँए से पानी लाते हुए तथा अन्य कार्यों में लीन रहकर भी गांवों की स्त्रियाँ लोकगीतों के माध्यम से काव्य सरिता प्रवाहित करती रहती हैं। श्रम और कला का ऐसा सुन्दर समन्वय नगर जीवन में प्रायः नहीं देखने को मिलता है। पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जब लोकगीतों का संग्रह प्रकाशित करवाया था तो उन्होंने इसे इसीलिए 'ग्राम गीत' ही कहा था।

देवी–देवताओं के सम्बन्ध में भी अनेक गीत उपलब्ध होते हैं। भोजपुरी प्रदेश में शीतला माता, गंगा जी, तुलसी माता के गीत प्रसिद्ध हैं। भजनों में भगवान की महिमा का वर्णन किया जाता है।

कहना न होगा कि लोकगीतों के इन विभिन्न प्रकारों में जो वर्णन मिलते हैं वे मनुष्य की अनुभूतियों, प्रकृति और मनुष्य के गहरे भावपूर्ण सम्बन्धों और एक दूसरे के जीवन में सार्थक सहभागिता के माध्यम से हमें स्वस्थ, सुन्दर और संतुलित जीवन पद्धति के संकेत देते हैं। ये लोकगीत समाजशास्त्रीय और मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन के साथ–साथ भाषिक समृद्धि की अपार संभावनायें धारण किये हुए हैं।

पर यहीं पर एक चिंताजनक बात भी है। आज

गांवों का जीवन तेजी से बदल रहा है। भूमंडलीकरण और बाजारवाद ने गांवों को भी उनके ग्रामत्व से गुम कर दिया है। नगरीकरण की तेज आँधी चल रही है। शहर होते गांव अब पहचाने नहीं जाते। आधुनिकता के तीव्र प्रक्षेप से परम्परायें ध्वस्त हो रही हैं। समाज पर राज्य सत्ता और तकनीकी अतिसत्ता का नियन्त्रण जैसे–जैसे बढ़ रहा है, लोक के मूल्य विघटित हो रहे हैं, नैतिकता का ह्रास हो रहा है। खड़ी बोली को ही अपनी मातृ भाषा मानकर हम उसके क्षेत्रीय रूपों की समृद्धि को भूलते जा रहे हैं और मुम्बईया फिल्मी–फैशन परस्त होते जा रहे हैं। गांवों की क्षेत्रीय भाषा और समृद्ध वाचिक परम्परा के लिए संकटपूर्ण स्थिति है। हम पुरानी पीढ़ी के कंठ में बसे लोकगीतों को भूलकर मुम्बईया फिल्मी गीतों में खो गये हैं। अगर हम नहीं चेते तो यह प्रवाह हमें बहा ले जायेगा। यहीं यह भी ध्यातव्य है कि लोक भाषाओं में भोजपुरी आदि की फिल्मों की सफलता ने आज के समय में इस संकटपूर्ण स्थिति में एक सुखद् अनुभूति करायी है। लोकगीत इन फिल्मों में प्रमुख रूप से गाये जाते हैं। धरती की समझ अब इन भोजपुरी आदि फिल्मों के माध्यम से प्रसार पा रही है। मुम्बईया फिल्म नगरी क्या, पूरा विश्व ही इससे चकित है।

जहां तक लोकगीतों के महत्व की बात है तो कहा जा सकता है कि लोकगीत जीवन के सम्पूर्ण पहलू का यथार्थ वर्णन करता है। जहां एक ओर इसमें सुखी समाज के धन, धान्य, ऐश्वर्य और विभूति का वर्णन होता है वहीं दूसरी ओर कठिन गरीबी, अकाल तथा घोर दरिद्रता का दृश्य भी दिखाई पड़ता है। वस्तुतः यह सच्चा, अमर और लोक–प्रतिनिधि काव्य है। डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी, ने लोकगीतों के महत्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि – ''ग्राम गीतों का महत्व उनके काव्य सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं है। इनका एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य है – एक विशाल सभ्यता का उद्घाटन जो अब तक या तो विस्मृति के समुद्र में डूब गई है या गलत समझ ली गई है।''[3] सुप्रसिद्ध विद्वान ग्रिम ने लोकगीतों की परिभाषा बतलाते हुए, इसे जनता का, जनता के लिए रचा गया जन काव्य कहा है।[4] कहना न होगा कि लोकगीत धरती के गीत हैं, जीवन के गीत हैं, विजय के गीत हैं, मंगल के गीत हैं और हमारी आशा के गीत हैं। जनता के द्वारा रचे गये, जनता के जीवन से सम्बन्धित ये गीत, जनता की ही सम्पत्ति हैं। सुप्रसिद्ध मानवशास्त्र वेत्ता डा0 वैरियर एलविन ने लोकगीतों के महत्व के विषय में लिखा है कि ''लोकगीत केवल अपने संगीत, स्वरूप और वर्ण्य विषयों के कारण ही महत्वपूर्ण नहीं है प्रत्युत इनकी महत्ता इससे भी अधिक है। इन गीतों में इन व्यवस्थित लेख–पत्रों (documents) में हमें मानव विज्ञान–शास्त्र सम्बन्धी तथ्यों की प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध होती है।''[5] एभेलिन मार्टिनेंगो का मत है कि ''लोककथायें कहानियों की जनक हैं और लोकगीत समस्त कविताओं की जननी है।''[6]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन लोकगीतों का जीवन के हर क्षेत्र में महत्व है। ऐतिहासिक, भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और भाषा शास्त्रीय आदि सभी दृष्टियों से लोकगीत अक्षय निधियाँ हैं। डा0 ग्रियर्सन ने भोजपुरी लोक–गीतों की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए एक स्थान पर लिखा है कि ये लोकगीत उस खान के समान हैं जिसके खोदने का कार्य अभी आरम्भ नहीं हुआ है। इन गीतों की प्रत्येक पंक्ति में ऐसी विशेषता है जिससे भाषा–शास्त्र सम्बन्धी अनेक समस्या हल की जा सकती है।''[7] अतः अब यह कहने की आवश्यकता नहीं कि लोकगीतों की परम्परा जो अब गुम होने के कगार पर खड़ी है, हम उसके संवर्धन का प्रयास करें, उसकी रक्षा करें, तभी लोकसाहित्य, जो जन–जीवन का दर्पण है, जिन्दा रह सकता है। लोक की जीवंत भाषा और संस्कार को साथ लेकर चलने से ही हमारी संस्कृति समृद्ध और जीवंत रह सकेगी।

संदर्भ–

1. डॉ0 द्विवेदी 'जनपद' वर्ष 1, अंक 1, पृ0 65
2. दि पीपुल दैट लिव इन मोर आर लेस प्रिमिटिव कंडीशन आउट साइड दि स्फियर आव सोफिस्टिकेटेड इन्फ्लुएन्सेज, डा0 दास–ए स्टडी आफ ओरिसन फोकलोर।
3. छत्तीसगढ़ी लोक–गीतों का परिचय।
4. "A balled is the poetry of the people, by the people, for the people."
5. The folk songs are important not only because the music, form and the content of verse but is itself part of a people's life even more because in songs, in charms, in actually fixed and established documents, we have the most authentic and unshakable witness to ethnographic fact. डा0 एलविनः फोक सांग्स ऑफ मैकल हिल्स (इन्ट्रोडक्शन)
6. The folk-tale is the father of all fiction and the folk song is the mother of all poetry. दि स्टडी ऑफ फोक सांग्स, पृष्ठ 2
7. The Bhojpuri folk songs are a mine almost entirely unworked and there is hardly a line in one of them which, if published now, will not give valuable are, in the shape of an explanation of some philological difficuly. जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, भाग III पार्ट 1 (सन् 1883) पृष्ठ 32

●●●●

*प्रवक्ता (हिन्दी)
राजकीय क्वींस इण्टर कालेज, वाराणसी

शोध-6

भारतीय राजनीतिक दर्शन के अन्तर्गत सामाजिक न्याय की अवधारणा का विकास : अम्बेडकर के विशेष सन्दर्भ में

राखी सिंह*
मंजीता पटेल**

सामाजिक न्याय आधुनिक जटिल समाज के अन्तर्गत उत्पन्न समस्याओं के निराकरण करने हेतु योग्य साधन होने के साथ ही साथ समकालीन दार्शनिक चिन्तन के अन्तर्गत लोकप्रिय एवं महत्वपूर्ण अवधारणा है। सामाजिक न्याय अवश्य ही एक नवीन अवधारणा है किन्तु इसका सम्बन्ध न्याय के परम्परागत सिद्धान्त से है। स्वतन्त्र भारतीय राजनीतिक व्यवस्था सामाजिक न्याय की अवधारणा से जुड़े मूल्य के अनुरूप स्थापित की गयी है। इस कार्य में डॉ0 भीमराव अम्बेडकर की महत्वपूर्ण व सराहनीय भूमिका रही है।

पाश्चात्य और पूर्वात्य दोनों ही राजनीतिक चिन्तन के अन्तर्गत न्याय को अनिवार्य और सर्वश्रेष्ठ मूल्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। किसी भी दार्शनिक या अवधारणात्मक चिन्तन का औचित्य इस पर आधारित होता है कि वह मानवीय समस्याओं के समाधान में किस मात्रा तक सफल है तथा इनकी प्रासंगिकता या उपयोगिता भी इसी आधार पर सुनिश्चित होती है।[1] प्रत्येक व्यक्ति को उसका उचित प्राप्य प्राप्त हो न्याय की यह परम्परागत व्याख्या सर्वमान्य रूप से स्वीकार की जाती है। अपने परम्परागत अर्थों में न्याय नैतिकता, कानून, धर्म, कर्तव्यपरायणता आदि मूल्यों से सम्बन्धित रहा है। यहाँ व्यक्ति के वैयक्तिक पक्ष को कोई विशेष महत्व प्राप्त नहीं था। उसे स्वयं के हितों को राज्य के विकास हेतु त्यागना पड़ता था और राज्य के जैविक संरचना की अवधारणा को केन्द्र मानते हुए व्यक्ति के अस्तित्व को पूर्णतः राज्य के साथ सम्बद्ध कर दिया जाता था। ऐसे में राज्य से पृथक होकर व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना करना सम्भव नहीं था किन्तु वैज्ञानिकता के विकास और धार्मिक एवं बौद्धिक पुनर्जागरण व सुधार के परिणामस्वरूप न्याय का परम्परागत स्वरूप परिवर्तित हो गया और न्याय नये आधारों पर परिभाषित किया जाने लगा।

सामाजिक न्याय एक समाज के अन्तर्गत ऐसे आदर्श की स्थापना करने का प्रयास करता है, जिसके माध्यम से आधुनिक जटिल और विषमता पूर्ण समाज के अन्तर्गत सभी द्वारा स्वीकृत वितरण व्यवस्था को प्राप्त किया जा सके, क्योंकि आज के विविधतापूर्ण समाजों के अन्तर्गत सामाजिक लाभों और बाध्यताओं को सभी वर्गों में विभाजित करते समय न्याय के सामान्य सन्दर्भ को अपनाना उचित तथा पर्याप्त नहीं कहा जा सकता है।

न्याय के इस अवधारणा के भाषयिक विश्लेषण के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक न्याय के विस्तृत सन्दर्भ का एक पक्ष है। यह समाज और न्याय दो अलग–अलग सन्दर्भों से सम्बन्धित है। न्याय को समाज से सम्बन्धित कर देने पर यह स्वतः ही सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय से जुड़ जाता है।[2]

डेविड मिलर ने सामाजिक न्याय के सम्बन्ध में यह स्वीकार किया कि व्यक्ति का ज्ञान, नैतिक सिद्धान्त के अनुसार नहीं अपितु उसके अपने विचार–विमर्श द्वारा प्राप्त अनुभवों के आधार पर निर्धारित होते हैं। एक समाज विशेष के अन्तर्गत सामाजिक संरचना में व्यक्तियों के मध्य निश्चित अर्न्तसम्बन्ध पाये जाते हैं। जिसके आधार पर एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ व्यवहार करता है और इनके मध्य प्राकृतिक और मानवीय संसाधनों के बंटवारे से सम्बन्धित निर्णय भी लिये जाते हैं। ऐसे में व्यक्ति के न्याय से जुड़े विचार भी इन मानवीय सम्बन्धों की प्रकृति द्वारा प्रभावित तथा परिवर्तित होता रहता है।[3] यहाँ सामाजिक न्याय के द्वारा सामाजिक अधिकारों और नियन्त्रणों के बीच सन्तुलन स्थापित करते हुए समाज के समस्त वर्गों के हितों को सुरक्षित करने का प्रयास किया जाता है और इस सिद्धान्त पर सम्पूर्ण व्यक्ति और समुदाय की सहमति भी प्राप्त रहती है। लोकतान्त्रिक राज्य व्यवस्था में सामाजिक न्याय से सम्बद्ध दावों को मुख्यतः व्यक्तियों की सुरक्षा, जीवन जीने के लिए आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति, एक व्यक्ति को समाज के अन्य व्यक्तियों से प्रतियोगिता करने हेतु अवसर की समानता, आधुनिक राज्य के अन्तर्गत आर्थिक क्रियाओं द्वारा उत्पन्न लाभों के उचित भाग की उपलब्धता, राजनीतिक स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र परिवेश तथा विधि द्वारा शासन संचालन के रूप में परिलक्षित किया जा सकता है।

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत सामाजिक न्याय– भारत में सामाजिक न्याय का सन्दर्भ नवीन है परन्तु भारतीय दार्शनिक परम्परा में इसकी मांग अपेक्षाकृत प्राचीन है। वेदों और स्मृतियों में सामाजिक न्याय को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के दर्शन के सन्दर्भ में परिभाषित किया गया है।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था प्रारम्भ से ही एकता और विभिन्नता दोनों का सम्मिलित स्वरूप रहा है और इसे दार्शनिक परम्पराओं में भी स्वीकार किया गया है। परम्परागत भारतीय समाज धर्म पर आधारित वर्गीकृत और असमानताओं से व्यवस्थित थी। इन समाजों में जो असमानताएं विद्यमान थी वे सामान्यतः वर्ण–व्यवस्था और महिलाओं के सम्बन्ध में निर्योग्यताओं के रूप में दृष्टिगत थीं। चूंकि भारतीय परम्परा के अन्तर्गत धर्म और न्याय को एक दूसरे के साथ परस्पर सम्बन्धित माना जाता था। इसलिए इन विभेदों और निर्योग्यताओं को विधिक व्यवस्था के रूप में शास्त्रों पर आधारित या रीति–रिवाजों द्वारा व्यवस्थित एवं समर्पित किया जाता था। ऋग्वेद के अन्तर्गत वर्ण–व्यवस्था को परमब्रह्म के शारीरिक विभाजन के परिणमस्वरूप उत्पन्न क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चर्तुवर्णों द्वारा निर्मित संस्था का उल्लेख किया गया है। प्रारम्भिक अवस्था में वर्ण–व्यवस्था की स्थिति अच्छी रही तथा प्रत्येक वर्ण के लिए अधिक या कम निर्धारित स्थान,

विशेषाधिकार और कर्त्तव्यों का निर्धारण करके न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना की जाती थी। उस समय धर्म के आधार पर निर्धारित कार्यों को करना ही न्याय था तथा राजा से लेकर सामान्य व्यक्ति तक सभी इसके अनुरूप कार्य करने के लिए बाध्य थे।[4] इस परम्परागत धर्म पर व्यवस्था का मनु, गौतम, नारद आदि ने अपने दर्शन के माध्यम से उल्लेख किया है। इस न्याय व्यवस्था का विकास किसी लाभ या हानि के उद्देश्य को ध्यान में रखकर नहीं किया गया अपितु तात्कालिक समय की परिस्थितियों और मानव कल्याण के उद्देश्य ने इसके विकास को सम्भव किया।[5] धर्म आधारित परम्परागत न्याय की अवधारणा को बाद के हिन्दू वंशावलियों द्वारा परिवर्तित कर दिया गया। जिसके कारण न्याय व्यवस्था ने अपने मूल स्वरूप को खो दिया। धीरे–धीरे वर्णव्यवस्था में आये कठोरता ने इसे जन्म आधारित जाति व्यवस्था में परिवर्तित कर दिया और इस व्यवस्था ने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, मानवीय जीवन से जुड़े प्रत्येक क्षेत्र ने व्यक्तियों के मध्य विभेद और असमानता को बढ़ाने का कार्य किया।

मुस्लिम शासन के समय में भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का संचालन ईस्लाम के पवित्र ग्रन्थ कुरान, सुन्ना और इज्मा के द्वारा किया जाता था, इतः इस समय भी सम्पूर्ण व्यवस्था धर्म के इन चार स्तम्भों पर आधारित की गयी थी।[6] सम्पूर्ण न्यायिक निर्णय शरियत कानून के माध्यम से नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित होते थे। मुस्लिम शासन प्रणाली के अन्तर्गत गैर मुस्लिम व्यक्तियों की स्थिति मुस्लिम समुदाय की अपेक्षा दयनीय थी।[7] इस काल में शासन का मुख्य उद्देश्य स्वहित की सुरक्षा तथा हिन्दू जनसंख्या पर राजनीतिक वर्चस्व स्थापित करना रहा। ऐसे में मुस्लिम शासन ने उस भेदभावपूर्ण व्यवस्था को जो जाति, रंग, धर्म, वंश, भाषा व लिंग पर आधारित थी उसे और अधिक दृढ़ किया। इस सम्पूर्ण शासन काल में मुस्लिम शासन ने न्याय के आधारभूत सिद्धान्तों मानवीय प्रतिष्ठा, समानता और बन्धुत्व के स्थान पर विभेद व अन्याय को बढ़ाया तथा जिससे सामाजिक न्याय अपनी पूर्णता के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सके।

औपनिवेशिक शासन काल में भारतीय सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत न्याय से सम्बन्धित कोई महत्वपूर्ण सुधार दृष्टिगत नहीं हुआ। अंग्रेजों के द्वारा मुगलकालीन शासन व्यवस्था से चले आ रहे असमानताओं को न सिर्फ यथावत बनाये रखा गया बल्कि इन्हें और अधिक जटिल बनाने का प्रयत्न किया गया। उन्होंने भारतीय समाज को सामाजिक आधारों के साथ–साथ आर्थिक आधारों पर भी विभाजित कर दिया था। औपनिवेशिक शासन का मुख्य उद्देश्य अपने राजनीतिक व आर्थिक हितों को पूर्ण करते हुए भारत में साम्राज्यवाद का विस्तार करना था, अतः इस समय सामाजिक न्याय के संदर्भ से जुड़े स्वतन्त्रता समानता और मानवीय गरिमा जैसे मूल्यों को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया गया।[8] यहाँ यह स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक शासन काल में सामाजिक न्याय को स्थापित करने हेतु कोई ठोस राजनैतिक प्रयत्न नहीं किया गया।

लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि अनेक भारतीयों ने इस समस्या के वास्तविक समाधान के आधार को ढूंढने का प्रयास किया। औपनिवेशिक भारत में सामाजिक न्याय की सबसे प्रहार मांग अम्बेडकर के विचारों में दिखाई पड़ती है, अतः सामाजिक न्याय से जुड़े भारतीय संदर्भ को समझने के लिए अम्बेडकर के चिन्तन व प्रयासों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

भीमराव अम्बेडकर और सामाजिक न्याय–

प्रजातांत्रिक मूल्य के रूप में सामाजिक न्याय राजनीतिक समानता– स्वतंत्रता व एक व्यक्ति एक मूल्य के सिद्धान्त को स्वीकारता है। डॉ0 अम्बेडकर के अनुसार न्याय सामान्यतः स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृ–भाव का ही दूसरा नाम है।[9] उनके सामाजिक न्याय की धारणा का भी यही आधारभूत विचार है। संविधान का मुख्य निर्माता होने के नाते न्याय, स्वतंत्रता, समानता भातृभाव और व्यक्ति की गरिमा को मूल्यों पर निर्धारित किया।

अम्बेडकर की सामाजिक न्याय की धारणा एक ऐसी जीवन पद्धति है जिसके अनुसार समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उचित स्थान मिलना चाहिए जो पारस्परिक मान–सम्मान, मैत्रीभाव, समान नागरिक होने की उत्कण्ठा, राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में न्यायोचित भागीदारी आदि पर आधारित हो।

अम्बेडकर ने अपनी सामाजिक न्याय की धारणा के अनुरूप, उन सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं किया, जिन्हें उन्होंने वर्णव्यवस्था, प्लेटो की योजना, अरस्तू की चिन्तन, नीत्शे के विचार, दैविक कानून, मध्यकालीन दृष्टिकोण, मार्क्सवादी सर्वहारा समाजवाद और गांधी के सर्वोदय समाज में अंतनिर्हित पाया। उन्होंने सामाजिक न्याय के वर्णाश्रमवादी दृष्टिकोण को अस्वीकार किया, क्योंकि उसने प्रत्येक वर्ण के लोगों के लिए कर्तव्य निर्धारित करते समय, सामाजिक असमानता को एक अधिकृत सिद्धान्त मान लिया। प्लेटो के योजना में भी न्याय को एक ही वर्ग के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। समस्त राज–सत्ता बौद्धिक वर्ग (दार्शनिक राजा) को सौपने का प्रस्ताव रखा गया, क्योंकि इसी वर्ग के लोग सक्षम, योग्य और स्वभावतः विवेकशील एवं न्याय प्रिय समझे गये। अरस्तू ने वर्णव्यवस्था की भाँति सभी नागरिकों को एक ही वर्ग की सेवा में अर्पित कर दिया। नीत्शे ने समस्त न्याय को अतिमानव की कृपा व इच्छा का विषय मान लिया, जो कुछ अतिमानव कहता है वही शुभ, उचित और न्याय है। अम्बेडकर ने कहा 'वह शक्ति की इच्छा, हिंसा, आध्यात्मिक मूल्यों का निषेध अतिमानव तथा बलिदान सामान्य आदमी की दासता और पतन के साथ जुड़ गया है।'[10]

दैविक कानून के आधार पर कुछ ईश्वरवादी धर्मों तथा धर्मशास्त्रियों द्वारा जिस प्रकार के सामाजिक न्याय की तलाश की गई उस भी अम्बेडकर ने अमान्य कर दिया जिसमें कहा गया कि सभी लोग ईश्वर के समक्ष समान है

और ईश्वर ही उन्हें न्याय देगा, क्योंकि इस प्रकार की समानता एवं न्याय कोरी कल्पना के सिवाय कुछ नहीं है।

सामाजिक न्याय की मार्क्सवादी धारणा भारत के पद्दलित कमजोर तथा पिछड़े वर्गों के संदर्भ में बहुत ही महत्वपूर्ण लगती है। इस धारणा में शोषितवर्गों के सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक हितों को अच्छे ढंग से दर्शाया गया है। लेकिन अम्बेडकर ने इस धारणा को भारतीय सामाजिक स्थिति में उपर्युक्त नहीं पाया, क्योंकि उसमें आर्थिक तत्व पर अधिक बल दिया गया है। न्याय की प्रभावी प्रक्रिया में सर्वहारा वर्ग की तनाशाही को आवश्यक माना गया है, धर्म की भूमिका का निषेध किया गया है।

गांधी जी का सर्वोदय सामाजिक न्याय का आदर्श निश्चय ही धर्म से जुड़ा हुआ है। आर्थिक तत्व पर अधिक बल नहीं है और तानाशाही का भी निषेध है लेकिन अम्बेडकर ने इसे पूर्णतः अस्वीकार कर दिया क्योंकि उसका मूलाधार वर्णाश्रम धर्म है, उसमें न्याय की रख–रखाव की प्रक्रिया में दरिद्रनारायण की भूमिका को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है एवं उसने आर्थिक न्याय के लिए जिस न्यासिता के आदर्श को प्रस्तावित किया गया है वह भेड़िया को मेमना की रखवाली करने के समान है अर्थात् पूंजीपति धन सम्पत्ति के स्वामी न होकर सामाजिक हित में उसके प्रबंधक न्यासी होगें जो भारतीय परिस्थिति में संभव नहीं है। यह मूलतः उस सामाजिक असमानता को न्यायोचित ठहराना था, जो हिन्दू समाज दर्शन में निहित है।

अम्बेडकर के अनुसार धर्म उन सिद्धान्तों से निर्मित होना चाहिए जो सार्वभौमिक रूप से लागू करने योग्य हो न कि व्यक्ति व समुदाय की स्वतंत्रता को समाप्त करने वाला व असमानता को बढ़ावा देने वाला हो।[11] वस्तुतः अम्बेडकर ने सामाजिक न्याय की प्रक्रिया में वर्णाश्रम की भावना और ईश्वर की संकल्प की भूमिका को आधार नहीं बनाया। उन्होंने तो संवैधानिक शासन, कानून, धर्म और नैतिकता को सामाजिक न्याय का आधार स्वीकार किया।

अम्बेडकर का सामाजिक न्याय, न्याय की वह विराट धारणा है जिसमें विधिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, प्राकृतिक सभी प्रकार के न्याय समाहित है। गरीबी, बेगार, दरिद्रता मिटाना, स्त्रियों को समान प्रतिष्ठा देना, सम्पत्ति एवं कृषक झगड़ों का निपटारा, अभावग्रस्त लोगों को विधिक सहायता देना, पिछड़े वर्ग के लोगों को आरक्षण, राजनीतिक अधिकारों को कमजोर वर्ग के लोगों को सुलभ कराना तथा धार्मिक सद्भावना कायम रखना, ये सब सामाजिक न्याय के ही विभिन्न पक्ष है जिनकी सम्पूर्ति समाज व्यवस्था को न्यायोचित बनाने में सहायक सिद्ध होती है। इसलिए अम्बेडकर ने सामाजिक न्याय को एक व्यापक धारणा मानकर उस पर अधिक बल दिया।

अम्बेडकर के अनुसार स्वतंत्रता व समानता सम्बन्धी जो अधिकार दलितों से अतीत में छीन लिये गये थे उन्हें महात्मा गांधी के सवर्णों के हृदय परिवर्तन व सामाजिक सुधार से सम्बन्धित कार्यक्रमों से नहीं बल्कि कठोर संघर्ष के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है। अतः दलितों में अपने अधिकारों के प्रति जागृति पैदा करने के लिए उन्होंने 1920 में मूक नायक, 1927 में बहिष्कृत भारत पाक्षिक पत्रों को प्रकाशन की पहल की। 1927 से 1930 ई0 के मध्य उन्होंने दलितों को सार्वजनिक स्थानों के उपयोग के अधिकार दिलाने के लिए संघर्ष किया, इनमें चवदारताल से पानी लेने सम्बन्धी महादसत्याग्रहसहित अम्बादेवी ठाकुर द्वारा गणपति प्रांगण तथा कालाराम मंदिरों में प्रवेश के लिए किये गये आन्दोलन मुख्य हैं। उनका मानना था कि विश्व के अधिकांश देशों में निम्नवर्ग के व्यक्ति प्रारम्भ से ही विद्यमान रहे हैं जैसे– रोम में दास, स्पार्टा में हेलोट्स, ब्रिटेन में विलियन, अमेरिका में नीग्रो आदि इन समस्त निम्नवर्गों का समापन हो चुका है किन्तु अछूतों से सम्बन्धित समस्याओं का आज तक कोई उचित समाधान नहीं हो सका, जिनकी संख्या 60 मिलियन से भी ज्यादा है।[12]

शिक्षा के दलितों के उद्धार का सशक्त माध्यम मानते हुए उन्होंने 1924 में बहिष्कृत हितकारिणी सभा, 1928 में डिपरेस्डक्लास एजुकेशन सोसायटी तथा 1946 में पीपुल्स एजुकेशनल सोसायटी की स्थापना की। दलितों में शिक्षा के प्रचार–प्रसार के उद्देश्य से ही पीपुल्स एजुकेशनल सोसायटी के अन्तर्गत उन्होंने मुम्बई में सिद्धान्त कालेज (1946) तथा औरगांबाद में मिलिंद कॉलेज (1951) की स्थापना की।

अम्बेडकर का विचार था कि दलितों को न्यायपूर्ण अधिकारों की प्राप्ति और स्वयं के हितों की रक्षा करने हेतु राजनैतिक शक्ति की प्राप्ति आवश्यक है, क्योंकि राजनैतिक शक्ति पर आधिपत्य हो जाने से यह वर्ग अपने आर्थिक व सामाजिक हितों की रक्षा करने में स्वयं सक्षम हो जायेगा। दलितों में राजनीतिक जागृति लाने के उद्देश्य से उन्होंने 1927 में समता सैनिक दल की स्थापना की, श्रमिकों व दलितों को एक संयुक्त ईकाई के रूप में संगठित करने के प्रयास से 1936 में तथा अम्बेडकर ने स्वतंत्र लेबर पार्टी के नाम से एक नये दल की स्थापना आल इंडिया सेड्यूल क्लास फेडरेशन की 1942 में की। 1938 में मुम्बई विधि सभा द्वारा पारित विधेयक, जिसके द्वारा मजदूरों के हड़ताल करने से सम्बन्धित अधिकार पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था, इस विधेयक पर अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने कहा, हड़ताल स्वतंत्रता का अधिकार है यह विधेयक मजूदरों की नागरिक स्वतंत्रता पर पाबंदी लगाने वाला पाश्विक व प्रतिगामी है इस विधेयक ने जनतंत्र का मजाक उड़ाया है।[13] 1942 से 46 तक ब्रिटिश भारत की वायसराय काउन्सिल के लेबर मेम्बर के रूप में डॉ0 अम्बेडकर ने महिला व पुरुष श्रमिकों के हितों की रक्षा करने से सम्बन्धित जैसे बेरोजगारों को रोजगार प्रदान करना, श्रमिकों के वेतन, सामाजिक सुरक्षा व मजदूरी से सम्बन्धित उस समय के श्रम नियमों में संशोधन करने व उनको सुरक्षा प्रदान के लिए कई योजनाएं बनाई। साउथवोरो समिति, साइमन कमीशन, मुम्बई लेजिस्लेटिव काउन्सिल, गोलमेज सम्मेलन व संविधान सभा में जब कभी भी डॉ0 अम्बेडकर को बोलने का अवसर प्राप्त हुआ, उन्होंने दलित व अल्पसंख्यकों के पक्ष

को पूरे सशक्त रूप में प्रस्तुत किया।

भीमराव अम्बेडकर भारतीय समाज में महिलाओं को न्याय प्रदान करने के लिए भी प्रयत्नशील थे। वह हिन्दू समाज में सती प्रथा के विरूद्ध संघर्ष, विधवा पुर्नविवाह व छोटी उम्र के महिलाओं का पुनर्विवाह के समर्थक थे। प्रथम कानून मंत्री के रूप में उन्होने हिन्दू कोड बिल का निर्माण किया, जिसके द्वारा भारतीय महिलाओं की सामाजिक, आर्थिक स्थिति में महत्वपूर्ण सुधार किया जा सके।[14] यद्यपि यह बिल पास न हो सका किन्तु इस बिल के आधार पर भारतीय संविधान में हिन्दू विवाह कानून, हिन्दू विच्छेद कानून, हिन्दू दत्तक अधिकार व रख–रखाव कानून, हिन्दू अल्पसंख्यक व अभिभावक कानून पास किया गया, जिसके परिणाम स्वरूप महिलाओं के स्थिति में महत्वपूर्ण सुधार किये जा सके।

सामाजिक न्याय को अम्बेडकर ने चूंकि समता एवं भ्रातृभाव से जोड़ा इसलिए वह सम्पूर्ण समाज का कार्यात्मक रूप है। सामाजिक न्याय समूचे राष्ट्र की सीमाओं को छूता है और उसमें रहने वाले समस्त नागरिकों को बंधुत्व में बांधने का प्रयास करता है। इस प्रकार सामाजिक न्याय की अवधारणा सर्वसमाहित और सम्पूर्ण समाज व्यवस्था का संचालन है। इसी कारण अम्बेडकर ने सामाजिक न्याय पर अत्यधिक बल दिया और कहा कि "भारत में समाज व्यवस्था को न्याय, स्वतंत्रता, समता एवं भातृत्व के आदर्शों पर निर्मित किया जाना चाहिए जो सामाजिक न्याय के प्रमुख तत्व है। यह कोई एक व्यक्ति, जाति, समुदाय या धर्म का मुद्दा नहीं है। सामाजिक न्याय एक गतिशील अनवरत चलने वाला आन्दोलन है जिसे भलीभाँति संचालित करने के लिए ज्ञान, कर्म और धैर्य की आवश्यकता है।

सन्दर्भ–

1. Paul Weithman, Jhon Rawls : A Remembrance, the Review of Politics Vol. 65, No. 1 (Winter 2003) p. 6
2. Mohammad Shabbir (Ed.) : B.R. Ambedkar, Study in Law and Society (1997) pp. 26-27.
3. Robert W. Pearigen : Principle of Social Jusitce : David Miller, Journal of politics, 2000, Vol. 62, No.2
4. J. Dunchan, M. Derret : Religion, Law and State in India (1968) pp. 97-98
5. Kamal Jeet Singh : Distributive Justice in India, Chapter-2, p. 46
6. M.B. Ahmed : Administration of Justice in Medieval India (1941) p. 70
7. Paras Diwan : Muslim Law in Modern India (1982) p. 17
8. Prabha Chawla : Equality and Justice in East and West, (1989), pp. 87-88.
9. बाबा साहेब अम्बेडकर : रायटिंग एण्ड स्पीचेज, खण्ड 3 (1987), पृष्ठ 25
10. डी0 आर0 जाटव : सामाजिक न्याय का सिद्धान्त (1993) पृष्ठ 72–79
11. B.R. Ambedkar : Annihilation of Caste (1968) p. 88
12. B.R. Ambedkar : Mr. Gandhi and Emancipation of the Untouchables (not dated) p. 11
13. Mohammad Shabbir (Ed.) : B.R. Ambedkar, Study in Law and Society (1997) p. 86
14. डॉ0 सूर्यनारायण रणसुभे : डॉ बाबा साहेब अम्बेडकर, (2006) पृष्ठ 98

●●●●

*शोध छात्रा, राजनीति विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

*शोध छात्रा, राजनीति विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

शोध-7

बौद्ध साहित्य में समाज प्रबन्धन

डा0 प्रभाकर लाल*

ऋग्वेद की ऋचाओं से ज्ञात होता है कि पूर्व वैदिक काल में व्यवसाय के आधार पर क्रमशः चार वर्ग निर्मित हुए जिसकी अभिव्यक्ति पुरुष सूक्त में की गई है। चारों वर्गों को एक ही विराट पुरुष के शरीर से उत्पन्न होना बतलाया गया है[1]–

ब्रह्मणोऽस्य मुखमासीदे बाहू राजन्यः कृतः।
उरुतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत्।।

इन चारों वर्गों का विकास होने में वर्षों का समय लगा होगा। ऋग्वेद में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है कि उस समय व्यवसाय को अपनाने के लिए प्रतिबंध था बल्कि कुछ ऐसे उद्धरण मिलते हैं जिससे लगता है कि व्यक्ति अपनी योग्यता के आधार पर किसी व्यवसाय को अपना सकता है। ऋग्वेद में एक कथा का उल्लेख है जिसमें कहा गया है कि राजा ऋष्टिकोण के दो पुत्र थे, देवापि और शान्तनु। देवापि बड़ा था अतः राजा पद पाने का अधिकारी था, किन्तु उसकी रुचि राजपद में नहीं थी। अतः छोटा भाई शान्तनु राजा बना। एक बार उसके राज्य में अकाल पड़ा। देवापि ने पुरोहित के रुप में यज्ञ कराकर वर्षा करवायी।[2] इस उद्धरण से स्पश्ट होता है कि राजा का बेटा भी पुरोहित बन सकता था। इसी तरह एक स्थान पर एक व्यक्ति यह प्रार्थना कर रहा है कि इन्द्र तुम मुझे क्या बनाओगे, ऋषि राजन्य अथवा अनन्त धन दोगे।[3] ऋग्वेद में एक कवि कहता है कि "मैं स्तुतिकर्ता हूँ, मेरे पिता वैद्य है और मेरी माँ चक्कियों में आटा पीसती है। हम लोग विभिन्न क्रियाओं के द्वारा धनोपार्जन करना चाहते हैं।"[4] इन सब उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि अपने कर्म से कुछ भी बना जा सकता था।

उत्तर वैदिक काल में वर्ण–व्यवस्था का आधार जन्म हो गया। जन्म से ही वर्ण निश्चित हो गया था। ब्राह्मण वर्ण में जन्म लेने वाला श्रेष्ठ एवं शूद्र के यहाँ जन्म लेने वाला व्यक्ति हीन समझा जाने लगा।[5] सत्यकाम जाबाल की कथा भी इसी प्रकार है। आचार्य हरिद्रुभत गौतम के पास जाकर उसने गुरुकुल में प्रवेश के लिए प्रार्थना की। इस पर गुरु ने तुरन्त उसके वंश के विषय में पूछा। उसका उत्तर सत्यकाम जाबाल ने दिया और कहा कि मुझे अपने गोत्र का पता नहीं है क्योंकि मेरे जन्म के समय मेरी माँ परिचारक वृत्ति में थी। जाबाल के उत्तर को सुनकर गुरु प्रसन्न हुए और कहा कि इतना सत्य ब्राह्मण के सिवाय और कोई नहीं बोल सकता। अतः सत्यकाम जाबाल को गुरुकुल में प्रवेश मिल गया जो बाद में सत्यकाम जाबाल के नाम से विख्यात आचार्य बना। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि केवल ब्राह्मण से ही सत्य भाषण की अपेक्षा की जाती थी।

इस प्रसंग से स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण को जन्म के आधार पर ही श्रेष्ठ समझा जाता था।[6] गौतम बुद्ध के समय तक सामाजिक व्यवस्था में उत्तरोत्तर बदलाव के परिणाम स्वरुप शूद्र के अन्तर्गत कुछ जातियों की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी थी।

गौतम बुद्ध ने सामाजिक व्यवस्था में व्याप्त अनेक बुराइयों का विरोध किया। लोगों को तार्किक और व्याहारिक व्यवस्थाओं को अपनाने की सलाह दी। बौद्ध साहित्य में ऐसे उद्धरण मिलते हैं। विनयपिटक में एक अभिमानी ब्राह्मण के द्वारा भगवान बुद्ध से पूछा कि ब्राह्मण कैसे होते हैं। उसके उत्तर में भगवान बुद्ध ने कहा कि ब्राह्मण वो होते हैं जो पाप से मुक्त हो, महाभिमानी न हो, मलरहित एवं संयत हो, वेदान्त का ज्ञाता हो, ब्रह्मचर्यव्रती हो, धर्म से ब्रह्मवादी हो, जिसमें समानता की भावना हो तथा जिसके समान विश्व में और कोई न हो।[7] मज्झिम निकाय में भगवान बुद्ध ने कहा कि कोई उच्च वर्ग में जन्म लेने से महान नहीं होता बल्कि पुण्य कर्मों द्वारा ही महान हो सकता है।[8] गौतम बुद्ध का प्रयास सामाजिक विघटन को रोकना था। यह उनका समाज प्रबन्धन था। गौतम बुद्ध के इस सामाजिक प्रबन्धन का प्रभाव तत्कालीन समाज पर दिखाई देता है। बौद्ध संघ में ऊँच–नीच की भावना नहीं पनपने पाई थी। यही कारण था कि नापित पुत्र होने पर भी उपालि बुद्ध के प्रिय शिष्यों में थे। गौतम बुद्ध की निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् संघ का प्रधान होने का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त हुआ।[9] शूद्र वर्ण के लोगों को भी शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हुआ। निर्वाण के लिए सभी वर्ग के लोग अधिकारी माने गये। अतः इस तरह बौद्ध काल में समाज प्रबन्धन था।

सन्दर्भ–

1. ऋग्वेद, 10/90/2।
2. यास्क का निरुक्त, 2/10।
3. ऋग्वेद, 3/44/5।
4. वही, 9/11/2–3।
5. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 78–79।
6. आपस्तब धर्मसूत्र, 11/1/5।
7. विनयपिटक, पृ0 476।
8. मज्झिम निकाय, भाग 2, पृ0 150।
9. मदन मोहन सिंह, बुद्धकालीन समाज, पृ0 13।

●●●●

*संविदा प्रवक्ता राष्ट्र गौरव (इतिहास)
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ
एन0टी0पी0सी0 परिसर
शक्तिनगर, सोनभद्र

शोध-8

पिछड़ी जाति के वृद्धजनों का परिवार में समायोजन एवं तनाव का प्रारूप

डॉ. मनोज सिंह*

साधारणतया परम्परा उन्मेषित समाज में परिवार एक ऐसा प्राकृतिक एवं प्रेरणाप्रद सामाजिक संगठन हे जिसके अन्तर्गत वृद्धों का देख–रेख, सुरक्षा एवं पोषण आदि की व्यवस्था उचित ढंग से संचालित होती है। यह कटु सत्य है कि परिवार में वृद्धजनों का देख–रेख पत्नी, पुत्र, पुत्रियाँ एवं पुत्र–बंधुएं करती है। परिवार में वृद्धों से सम्बन्धित विविध प्रकार के क्रिया–कलाप सांवेगिक गाठों एवं परस्पर सम्बन्धों के माध्यम से किये जाते हैं। वृद्धों के देख–रेख के परिप्रेक्ष्य मे सिर्फ एक सम्बन्ध एवं पारस्परिक सम्बन्ध एवं वैवाहिक सम्बन्ध का योगदान नहीं होता वरन सामाजिक मूल्य, प्रतिमान एवं व्यवहारों का प्रतिफल भी अपना सृजनात्मक योगदान प्रदान करता है। वृद्धों की देख–रेख एक नैतिक जिम्मेदारी है और उनके आशीर्वचन से लोक एवं परलोक का मार्ग सरल हो जाता है। परम्परागत गठबन्धन विविध प्रकार के प्रभाव के परिणाम स्वरुप वृद्धजनों एंव युवाओं के मध्य दूरियों का निर्माण कर रहा है। परिणामस्वरूप वृद्धों एवं युवाओ के परस्पर सम्बन्ध दृढ़ होने की जगह उत्तरोत्तर निर्बल होते जा रहे है। विविध प्रकार की सामाजिक आर्थिक शक्तियाँ एवं सांस्कृतिक परिवर्तन समसामयिक समाज में घटित हो रहे हैं। इसका प्रतिफल यह है कि युवाओं में वृद्धों के प्रति वह दृष्टिकोण नहीं है, जो पहले था।[1]

चिकित्सा–विज्ञान के क्षेत्र में विविध प्रकार के अन्वेषण एवं निरन्तर गतिशील उच्च स्तरीय अनुसंधान वृद्धों के जीवन के विविध पक्षों से सम्बन्धित चिकित्सीय समस्याओं के समाधान में लगा हुआ है। इसका परिणाम यह है कि वृद्धों का जीवन दीर्घ होता जा रहा है। वे अपने परिवार तथा समाज से विविध प्रकार के देख–रेख एवं अनुपोषण की अपेक्षा कर रहे हैं। इसका परिणाम यह है कि वृद्धों की अपेक्षाएं परिवार के सदस्यों से उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है।

व्यक्तिवादिता, तार्किकता, उदारवाद एवं उच्च शिक्षा के प्रभाव के कारण परिवार में अहमवादी एवं स्वार्थी प्रवृत्तियों का बोलबाला बढ़ रहा हैं। युवाओं के आकांक्षा एवं जीवनशैली में तीव्र बदलाव आ रहा है। इसका परिणाम यह है कि उनका परम्परागत मूल्यव्यवस्था से ताल–मेल नहीं बैठ पा रहा है। परिणामस्वरूप युवा वर्ग के लोग अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए वृद्धों को सहयोग देने की तुलना में उनके समक्ष विविध प्रकार के कठिनाईयों को उत्पन्न करने में अपना योगदान प्रदान कर रहे हैं।

'साधारणतया भारतीय संयुक्त परिवार में सम्बन्धों की मधुरता प्रभावित हो रही हैं। परिवार के विविध सदस्यों में विभिन्न प्रकार के कुसमायोजन एवं तनाव की स्थित उत्पन्न हो रही है। इसप्रकार की स्थिति को उत्पन्न करने में वृद्धों के व्यक्तित्व एवं व्यवहार प्रारूप का बहुत बड़ा योगदान होता है। जीवन के अन्तिम पड़ाव पर अग्रगामी होने के कारण वृद्धजन परिवार में समायोजन की बात कम करते हैं तथा किसी न किसी रूप मे उभय संकट की स्थिति को बनायं रखने का प्रयास करते हैं। परिणाम यह होता है कि परिवार विविध प्रकार के तनावों व कुसमायोजन की स्थितियों को झेलता है।

वहाँ की समस्या को समझने के लिए समसामयिक समाज में परिवार की भूमिका को विश्लेषित करना आवश्यक है। आज वृद्धों के प्रति वह नजरिया नहीं है जो पहले था। विविध प्रकार के अनुभवगत अध्ययनों से स्पष्ट है कि वृद्धों के देख–रेख के लिए परिवार से बढ़कर कोई दूसरा संगठन नहीं हैं। परन्तु परिवर्तित परिस्थितयों में विविध प्रकार के सामाजिक–सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक कारकों के प्रभाव के परिणाम स्वरुप आज परिवार अपनी अपेक्षित भूमिका प्रतिपादित नहीं कर पा रहा है, जिसकी उससे अपेक्षा है।[2]

जहाँ तक वृद्धों के देख–रेख का प्रश्न है परिवार का स्थान साधारणतया केन्द्रीय है। इसके अन्तर्गत वृद्धों को सुचारू रुप से देख–रेख करने के लिए बल दिया जाता है। परिवार के अन्तर्गत युवा वर्ग को ही वृद्धजनों की देख–रेख का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व सौंपा जाता है। परन्तु विविध प्रकार के प्रभाव के परिणामस्वरुप आज परिवारों से उनके अपेक्षित भूमिका की विशेष आशा नहीं रखी जा सकती। इस प्रकार कहा जा सकता है कि परिवार अपनी अपेक्षित भूमिका से उत्तरोत्तर विचलित होता जा रहा है। परिवार का युवा वर्ग वृद्धों के खान–पान मनोरंजन, आध्यात्मिकता के प्रति बढ़ता सम्मान आदि के सन्दर्भ में सक्रिय नहीं रहता। इस प्रकार की स्थिति में वृद्धों के मंगलमय दीर्घ जीवन के प्रति अधिक अपेक्षा नहीं की जा सकती। परिवर्तित परिस्थितियों में वृद्धों के सन्दर्भ में परिवार की भूमिका उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण होती जा रही है।

संक्रमणकालीन परिस्थितयों में भारतीय समाज में रोजगार में लगे मध्यवर्गीय पिछड़ी जाति के परिवारों में तनाव एवं अभियोजन की समस्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। मध्यम वर्गीय परिवार में परम्परागत मूल्य आज भी परिवार के अन्तर्गत स्वस्थ वातावरण के निर्माण में अपना रचनात्मक योगदान एवं सहयोग प्रदान करते हैं।

प्रस्तुत लेख वाराणसी जनपद के राजातालाब विकास खण्ड के कुछ चयनित ग्रामों के पिछड़ी जाति के वृद्धों (अहीर, कोयरी, कुर्मी एवं नोनिया) पर आधारित है। पिछड़ी जाति के वृद्धों के जीवन के विविध पक्ष उनके आर्थिक स्तर के विविध आयामों पर आधारित है। यदि वृद्ध आर्थिक रूप से सम्पन्न हैं तो परिवार के सदस्य उनकी

देख–रेख भली–भाँति करते हुए उनके जीवन के विविध पक्षों की आवश्यकता को पूर्ण करने का सार्थक प्रयास करते हैं। अर्थाभाव से पीड़ित वृद्ध अपने जीवन के एक–एक दिन को बहुत कष्ट के साथ झेलने का प्रयास करते हैं।

आँकड़ों का प्रस्तुतीकरण– प्रस्तुत लेखन के अन्तर्गत वृद्धो के जीवन के विविध पक्षों को तथ्यगत आधार पर विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है–

पत्नी के अतिरिक्त परिवार में देख–रेख करने वाला– साधारणतया भारतीय परिवार में वृद्धों की देख–रेख एवं उनकी समस्याओं का समाधान उनकी पत्नी के द्वारा किया जाता है। परन्तु परिवार मे कुछ ऐसे सदस्य भी होते है जो पत्नी के अतिरिक्त भी वृद्धों की देख–रेख में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान करते हैं। इस सन्दर्भ में जब पिछड़ी जाति के उत्तरदाताओं (वृद्धों) से पूछा गया कि पत्नी के अतिरिक्त परिवर में कौन उनका देख–रेख करता है?

इस सन्दर्भ में समाकल्पित तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि पत्नी के अतिरिक्त परिवार में देख–रेख करने वालों में पुत्र–पुत्री 180 (60.00 प्रतिशत) का स्थान महत्वपूर्ण है। अध्ययन के अन्तर्गत 120 (40.00 प्रतिशत) उत्तरदाताओं ने अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहा कि उनका देख–रेख परिवार के अन्य सदस्य करते हैं। तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि पत्नी के अतिरिक्त परिवार में वृद्धों की देख–रेख पुत्र या पुत्री करते हैं। उपर्युक्त तथ्यों को सारिणी संख्या 01 में प्रस्तुत किया गया है–

सारिणी संख्या 01

पत्नी के अतिरिक्त परिवार के सदस्यों द्वारा वृद्धों की देख–रेख एवं उत्तरदाता

परिवार के सदस्य	आवृत्ति	प्रतिशत
पुत्र–पुत्री	180	60.00
परिवार के निकट सम्बन्धी	120	40.00
योग	300	100.00

परिवार के सदस्यों में सम्पत्ति को लेकर मुकदमेबाजी– परिवार में किसी विशेष बात पर विवाद के बढ़ने की सम्भावना अधिक होती है। विवाद के बढ़ने पर एवं उसके समाधान के न होने पर मुकदमें बाजी की भी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति में वृद्धों का हस्तक्षेप करना स्वाभाविक है। परन्तु यह हस्तक्षेप कभी–कभी समस्या के समाधान की अपेक्षाकृत उसे संकुल बनाने में अधिक सहयोग प्रदान करता है। इस सन्दर्भ में पिछड़ी जाति के उत्तरदाताओं से यह पूछने पर कि सम्पत्ति के सन्दर्भ में उनके परिवार में मुकदमेबाजी हुई है। 130 (43.34 प्रतिशत) उत्तरदाताओं ने कहा कि सम्पत्ति को लेकर उनके परिवार में मुकदमेबाजी हुई है। इन्हीं उत्तरदाताओं में 170 (56.66 प्रतिशत) ने अपना नकारात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। तथ्यों के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि सम्पत्ति को लेकर परिवार के सदस्यों में परस्पर मुकदमेबाजी हुई हैं, जो परिवार के विकास एवं सुसंगठन के लिए अच्छा संकेत प्रस्तुत नहीं करता। उपर्युक्त तथ्यों को सारिणी संख्या 02 में प्रस्तुत किया गया है–

सारिणी संख्या 02

परिवार के सदस्यों में सम्पत्ति को लेकर मुकदमेबाजी एवं उत्तरदाता

परिवार के सदस्यों में सम्पत्ति को लेकर मुकदमेबाजी	आवृत्ति	प्रतिशत
हाँ	130	43.34
नहीं	170	56.66
योग	300	100.00

परिवार के सदस्यों का आपसी मतभेद, झगड़ा तथा उत्तरदाता– उत्तरदाताओं से यह पूछने पर कि किन विशिष्ट क्षणों में परिवार के सदस्य आपस में मतभेद करते हैं तथा झगड़ा करने पर अमादा हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में पिछड़ी जाति के उत्तरदाताओं में 51 (17.00 प्रतिशत) उत्तरदाताओं ने अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहा कि रूपये एवं अन्य सम्पत्ति के आदान–प्रदान में वे अपना मतभेद एवं झगड़ा करते हैं, 69 (23.00 प्रतिशत) उत्तरदाता स्वार्थों को पूरा न होने की स्थिति में; 54 (18.00 प्रतिशत) उत्तरदाता परिवार की गतिविधियां ठीक न होने पर; 64 (21. 33 प्रतिशत), उत्तरदाता जब नैतिकता की स्थिति डांवाडोल हो, 62 (20.67 प्रतिशत) उत्तरदाताओं ने अब युवाओं पर से अनुशासन कम होने लगे, आदि को मतभेद एवं झगड़े का महत्वपूर्ण आधार बनाया। परिवार के सदस्य जो सूझ–बूझ से काम लेते हैं, वे इस प्रकार की स्थिति से बहुत सहजता से सामना कर लेते हैं, परन्तु जो सदस्य विवेकशील नहीं होते वे इसी प्रकार की समस्याओं को भयानक रूप प्रदान कर देते हैं। उपर्युक्त तथ्यों को सारिणी संख्या 03 में प्रस्तुत किया गया है–

सारिणी संख्या 03

परिवार के सदस्यों का आपसी मतभेद एवं झगड़ा तथा उत्तरदाता

परिवार के सदस्यों में मतभेद एवं झगड़ा	आवृत्ति	प्रतिशत
रूपयें एवं अन्य सम्पत्ति के आदान–प्रदान में	51	17.00
जब उनके स्वार्थों की पूर्ति नहीं करते	69	23.00
परिवार के गतिविधियों को ठीक नही ठहराते	54	18.00
जब नैतिकता की स्थिति डांवाडोल होने लगती है	64	21.33
जब युवाओं पर से अनुशासन कमजोर होने लगता है	62	20.67
योग	300	100.00

परिवार के सदस्यों का आपके व्यवहार व क्रिया–कलाप से चिढ़ना– साधारणतया परिवार में वृद्धों एवं युवा सदस्यों के मध्य मूल्यों का टकराव होता है। वृद्ध परिवार, समुदाय एवं समाज की विविध गतिविधियों को अपनी दृष्टि से देखते हैं तथा युवा वर्ग से अपने दृष्टि–कोणों के अन्तर के परिणाम स्वरुप युवा वर्ग एवं वृद्धों में तनाव की स्थिति उत्पन्न होती रहती है। वे एक दूसरे के साथ सामन्जस्य स्थापित करने में चिढ़ते हैं। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर जब उत्तरदाताओं से पूछा गया कि क्या कभी आपके परिवार के सदस्य आपके व्यवहार एवं क्रिया कलाप से चिढ़ते हैं? इस सन्दर्भ में पिछड़ी जाति के उत्तरदाताओं में 162 (54.00 प्रतिशत) उत्तरदाताओं ने अपना स्वीकार मूलक उत्तर दिया और यह स्पष्ट किया कि परिवार क सदस्य उनके व्यवहार व क्रिया

कलाप से चिढ़ते हैं परन्तु 126 (42.00 प्रतिशत) उत्तरदताओं ने इस सन्र्भ में अपना नकारात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इन्हीं उत्तरदाताओं में 12 (04.00 प्रतिशत) उत्तरदाताओं ने इस सन्दर्भ में अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि उत्तरदाताओं ने अपना पक्ष प्रस्तुत करने में अपनी जिज्ञासा प्रकट नहीं की। उपर्युक्त तथ्यों को सारिणी संख्या 04 में प्रस्तुत किया गया है–

सारिणी संख्या 04

परिवार के सदस्यों का आपके व्यवहार एवं क्रिया–कलाप से चिढना एवं उत्तरदाता

परिवार के सदस्यों का व्यवहारिक एवं क्रिया कलपाप से चिढ़ना	आवृत्ति	प्रतिशत
हाँ	162	54.00
नहीं	126	42.00
मैं नहीं जानता	12	04.00
योग	300	100.00

पारिवारिक पृष्ठ भूमि मे विविध प्रकार की सामाजिक, आर्थिक, सांवेगिक समस्याएं होती हैं। कभी–कभी सांवेगिक समस्याएं इतनी जटिल हो जाती है जिनका निराकरण सम्भव नहीं होता। वृद्धावस्था में व्यक्ति कुछ अधिक भावुक हो जाता है और वह परिवार के सदस्यों से ऐसी स्थिति में मदद की अपेक्षा रखता है। उत्तरदाताओं से जब यह पूछा गया कि सांवेगिक रुप से परेशानियों की स्थिति में क्या परिवार के सदस्य आपके मदद के लिए तैयार रहते हैं? इस सन्दर्भ में पिछड़ी जाति के उत्तरदाताओं में 123 (41.00 प्रतिशत) उत्तरदाताओं ने कहा कि सांवेगिक रूप में परेशानियों के अन्तर्गत परिवार के सदस्य उनकी प्रत्येक सहायता प्रदान करने के लिए तैयार रहते हैं। 155 (51.67 प्रतिशत) उत्तरदाताओं ने इस सन्दर्भ में अपना नकारात्मक उत्तर दिया। 22 (07.33 प्रतिशत) उत्तरदाताओं ने अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा कि इस सन्दर्भ में उन्हें विशेष जानकारी नहीं है। तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि अधिकांश उत्तरदाताओं ने इस तथ्य को स्वीकार किया है, कि वे जब सांवेगिक समस्याओं से आक्रान्त रहते हैं तो ऐसी स्थिति में परिवार के सदस्य उनको किसी प्रकार का सहयोग प्रदान नहीं करते। परिणाम स्वरूप उन्हें विविध प्रकार की विडम्बनाओं को झेलना पड़ता है उपर्युक्त तथ्यों को सारिणी संख्या 05 में प्रस्तुत किया गया है–

सारिणी संख्या 05

सांवेगिक परेशानियों में परिवार के सदस्यों द्वारा मदद एव उत्तरदाता

सांवेगिक परेशानियों में परिवार के सदस्यों द्वारा मदद	आवृत्ति	प्रतिशत
हाँ	123	41.00
नहीं	155	51.67
मैं नहीं जानता	22	07.33
योग	300	100.00

निष्कर्ष– साधारणतया भारतीय परिवार में वृद्धजनों का अभियोजन एवं तनाव की स्थिति समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में एक महत्वपूर्ण विषय है। साधारणतया भारतीय समाज की प्रकृति में संयुक्त परिवार का विशेष महत्त्व है। इसके अन्तर्गत इससे सम्बन्धित विविध पक्षों में टकराव की स्थिति उत्पन्न होती रहती है। युवा पीढ़ी एवं वृद्धों में मूल्यों पर सहमति न बन पाने की स्थिति में टकराव की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। युवा–वृद्ध संघर्ष परिवार एवं समाज में विविध समस्याओं का सृजन करते हैं।

साधारणतया भारतीय परिवार में वृद्धों की देख–रेख एवं सुरक्षा की महती आवश्यकता हैं जो साधारणतया उपलब्ध नहीं होती। वृद्धावसथा में पत्नी का जीवित रहना वृद्धों को विशेष मानसिक सुरक्षा प्रदान करता है। पत्नी के न रहने की स्थिति में वृद्धजनों की देख–रेख साधारणतया उनके पुत्र एवं पुत्री करते हैं। विषम परिस्थिति में परिवार के निकट सम्बन्धी देख–रेख करते हैं।

परिवार में सम्पत्ति को लेकर विवाद होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। इस प्रकार के विवाद से वृद्धों में तनाव का उत्पन्न होना स्वाभाविक प्रक्रिया है। वृद्धों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि सम्पत्ति से सम्बन्धित मुकदमेबाजी के कारण उन्हें तनाव एवं अभियोजन की समस्या से ग्रसित होना पड़ता है। वृद्धों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि आपसी मतभेद एवं झगड़ा के कारण तनाव एवं संघर्ष की समस्या उत्पन्न होती है साधारणतया वृद्धों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि स्वार्थों की पूर्ति न होना परिवार में तनाव की स्थिति को उत्पन्न करता है।

वृद्धों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि परिवार के सदस्य उनके क्रिया–कलाप निर्णय–प्रक्रिया से सहसम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते। परिणामस्वरूप परिवार के सदस्य उनसे चिढ़ने लगते हैं। उनका विशेष परिस्थितियों में विरोध करते हैं।

साधारणतया वृद्धों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि परिवार के सदस्य सांवेगिक परेशानियों में उनका धैर्य बढ़ाते हैं, परन्तु अधिकांश वृद्धों ने इस सन्दर्भ में अपना नकारात्मक उत्तर दिया है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि पारिवारिक पृष्ठभूमि में वृद्धों को विविध प्रकार के समायोजन एवं तनाव का सामना करना पड़ता है।

सन्दर्भ–

1. एस. विजय कुमार, 1997 प्री. रिटायरमेंट प्लान्स एण्ड पोस्ट रिटायरमेंट एडजस्टमेंटरिसर्च एण्ड डेवलपमेंट जर्नल, 3, 2, फरवरी, 12–22
2. जी पादगी– 1997, ओल्ड एड ब्यूंज दी सण्डे टाइम्स आफफ इण्डिया, नई दिल्ली, मई 11, सन्डे रिव्यू

●●●●

*प्रवक्ता, न्या.रा.सी.एस.पी. सिंह डिग्री कॉलेज, विक्रमगढ़, इलाहाबाद

महाभारतीय विधान पर भारतीय संविधान

डॉ0 रवीन्द्र नाथ यादव*

सम्पूर्ण उपलब्ध विश्व साहित्य में सबसे बृहद् ग्रंथ 'महाभारत ही है जिसमें एक लाख से भी अधिक श्लोकों का संग्रह है। 'जय', भारत संहिता' से शतसाहस्री संहिता के रूप में परिवर्धित 'महाभारत' भारत के सांस्कृतिक विषयों का विराट कोश तथा आचार की संहिता है। महाभारत के रचयिता महर्षि व्यास जिन्हें वेदव्यास तथा कृष्णद्वैपायन के नाम से भी जाना जाता है ने तीन वर्षो तक निरन्तर अथक परिश्रम से इसकी रचना की –

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।[1]
महाभारतमाख्यानं कृतवानिद मुत्तमम्।।

इसे मात्र संयोग ही नहीं कह सकते कि सम्पूर्ण उपलब्ध विश्व संविधान में सबसे बड़ा संविधान 'भारत का संविधान' है जिसमें मूल रूप से 395 अनुच्छेद तथा 8 आठ अनुसूचियां सम्मिलित की गयी। इसके वृहद् रूप के कारण ही इसे 'भानुमति का पिटारा' कहा गया। प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ0 भीमराव अम्बेडकर ने बताया कि संविधान सभा दो वर्ष ग्यारह महीने और अट्ठारह दिन तक अस्तित्व में रही। इस प्रकार संविधान–सभा के 3 वर्ष के अस्तित्व काल में उस पर 63,96,729 रू0 का खर्च हुआ तथा जनता ने संविधान–सभा की कार्यवाही में सक्रिय रूचि ली थी और दर्शक दीर्घा में 53000 दर्शकों को प्रवेश मिला था।[2]

महाभारतकार ने अपने युग के समस्त उल्लेखनीय विषयों को इसमें समाहित करने का अप्रतिम प्रयास किया है। इस प्रकार भारत वर्ष के समस्त पक्ष इसमें निहित हैं। स्वयं वेदव्यास इस तथ्य का उल्लेख करते हैं–

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।[3]
यदि हास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वाचित्।।

कौरव–पाण्डवों का पूरा इतिवृत्त मूल कथानक के रूप में होते हुए भी, अनेक संवादों के बहाने से धर्म अध्यात्म, इतिहास, भूगोल, आख्यान, नीतिशास्त्र आचार–विचार आदि समस्त सांस्कृतिक विषयों को इसमें समाविष्ट किया गया। इससे यह भारत वर्ष का विश्व कोश बन गया। विशालता और महत्ता ही इसके 'महाभारत' कहे जाने की पृष्ठ भूमि में थी–

महत्वाद भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते।[4]

भारत के संविधान के सैद्धान्तिक पक्ष का विवेचन करते समय हमें सर्व प्रथम यह स्मरण रखना होगा कि भारत का संविधान बिना किसी प्रकार के भेद–भाव के देश में बसने वाले सभी लोगों की साधारण जनहित की भावना से अनुप्राणित है उसमें मानवाधिकार की सुरक्षा को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। संविधान के सभी सिद्धान्त अनिवार्यतः व्यवहारोपयोगी हैं। इसकी प्रस्तावना में कहा गया है –

''हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न (धर्म निरपेक्ष, समाजवादी) लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को –[5]

न्याय – सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक।

स्वतंत्रता – विचार के अभिव्यक्ति की, विश्वास की, धर्म एवं पूजा की।

समानता – प्रतिष्ठा एवं अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सबमें।

भातृत्त्व – जिसमें व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित रहे, का वर्धन करने के लिए।

इस संविधान सभा में आज 26 नवम्बर 1949ई0 को इसके द्वारा इस संविधान को स्वीकार करते हैं, कानून का रूप देते हैं और अपने आपको इस संविधान को अर्पण करते हैं।

इस प्रस्तावना से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस संविधान का निर्माण भारत की जनता द्वारा, भारत की जनता के लिए किया गया। आज भारत एक सर्व प्रभुत्व देश बन गया है। इस संविधान का उद्देश्य भारत में धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी, लोकतंत्रात्मक गणराज्य की स्थापना करना और सबको न्याय, स्वतंत्रता एवं समानता प्रदान करना तथा बंधुत्व की भावना का विकास करना है। वर्ष 1976 में भारत वर्ष की तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी के प्रयासों से 42वें संशोधन के द्वारा नागरिकों के कर्तव्यों को भी संविधान का अंग बनाया गया जो निम्नलिखित है –[6]

1. संविधान का पालन करना।
2. राष्ट्रीय आदर्शो का पालन करना।
3. भारत की सार्वभौमिकता, एकता तथा अखंडता के प्रति निष्ठावान होना एवं इसकी रक्षा करना।
4. देश की रक्षा एवं सेवा को तत्पर रहना।
5. देश में भाई–चारे की भावना को विकसित करना।
6. भारतीय संस्कृति का सम्मान करना एवं इसकी सुरक्षा करना।
7. देश के प्राकृतिक वातावरण की समृद्धि में योगदान देना उसकी सुरक्षा करना तथा प्राणिमात्र के प्रति दयापूर्ण व्यवहार करना।
8. वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानवतावाद, ज्ञान एवं सुधार की भावना विकसित करना।
9. सार्वजनिक संपत्ति की सुरक्षा करना।
10. राष्ट्र के निरंतर विकास के लिए (व्यक्तिगत, सार्वजनिक क्षेत्रों में) प्रयत्न करना।

इन मूल कर्तव्यों के संविधान का अंग बनाकर एक अच्छा कदम उठाया गया है। सरकार जहां अधिकार प्रदान करती है वहीं अपने नागरिकों से कुछ आकांक्षाएँ भी रखती है। अगर हम अधिकारों की माँग करते हैं तो हमें अपने कर्तव्यों के प्रति भी सचेत रहना चाहिए। श्रीमती इंदिरा गांधी ने इन कर्तव्यों को समाविष्ट करते हुए यह आशा व्यक्त की थी कि अगर लोग मौलिक कर्तव्यों को अपने

दिमाग में रख लें तो हम तुरन्त ही एक शांतिपूर्ण तथा मैत्रीपूर्ण क्रांति देखेंगे। देश की विषम परिस्थिति में इन कर्तव्यों का महत्व और भी बढ़ जाता है।

कर्तव्य को बताने के लिए महर्षि वेदव्यास ने महाभारत में भगवान श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को अवलम्ब मनाकर सम्पूर्ण मानव जाति को निष्काम कर्मयोग का अत्यन्त सारगर्भित व्याख्यान दिलवाया है –

नेहाभिक्रम नाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।[7]
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायतो महतो भयात्।।

× × × × ×

कर्मण्येवाधिकारस्तते मा फलेषु कदाचन।[8]
मा कर्मफल हेतुभूर्मा ते संगोऽस्त्व कर्मणि।।

× × × × ×

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।[9]
जन्म बन्ध विनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्य नामयम्।।

× × × × ×

संविधान में उल्लिखित मौलिक अधिकारों[10] से तानाशाही के विरूद्ध देश की आम जनता को संरक्षण प्राप्त होता है। संविधान के तीसरे भाग में 12 से 35 धाराओं में इन मौलिक अधिकारों यथा समानता स्वतंत्रता शोषण के विरूद्ध, धार्मिक स्वतंत्रता, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक, तथा संविधानिक उपचारों के अधिकार की चर्चा की गयी है। इन अधिकारों की पूर्ति के लिए पीड़ित व्यक्ति न्यायालय की शरण ले सकता है। कदाचित महाभारत में पाण्डवों को अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए ही सत्य एवं न्याय के पालन कर्ता श्रीकृष्ण के शरण में जाना पड़ा जिसमें श्रीकृष्ण द्वारा अपने अधिकारों की रक्षा के लिए तथा दुष्टों को दण्ड देने के लिए युद्ध करने की प्रेरणा दी।

नागरिकों के मूल अधिकारों एवं कर्तव्यों के अतिरिक्त संविधान के चौथे भाग में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों[11] की चर्चा की गयी है। इनका उद्देश्य भारत में एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। इनके द्वारा राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था करे जिसमें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय, जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक कार्य साधक रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा। नीति निर्देशक तत्वों में मुख्यतः आर्थिक, सामाजिक, प्रशासनिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक तथा अंतराष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की व्यवस्था से सम्बद्ध है।

महाभारत में चिकित्सा, शिक्षा तथा सुरक्षा व्यवस्था पर पर्याप्त निर्देश हैं। जिसमें कहा गया है कि राज्य अपनी सहायता, व्यवस्था तथा परामर्श के लिए योग्य अमात्यों को नियुक्त करें –

चतुरो ब्राह्मणान् बैधान प्रगल्भान स्नातकान् शुचीन्।[12]
क्षत्रियान्दश चाष्टौ च बलिनः शस्त्रपाणिनः।।

× × × × × × × × × ×

अर्थात् चार ब्राह्मण नियत किये जाएं जो चिकित्सा में निपुण हों, स्नातक हों, विद्वान व सदाचारी हों, अठारह ऐसे क्षत्रिय नियत किए जाए जो शक्ति सम्पन्न और शस्त्र धारण करने वाले हों – × × × × ×

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि महाभारत काल में शिक्षा चिकित्सा, वित्त एवं रक्षा के लिए अत्यन्त सुव्यवस्थित नियम था। महाभारत का अनुशासन पर्व तो स्वयं में संविधान है। आख्यानों के द्वारा इस विषय में कहीं मित्र सम्मित उपदेश है, तो कहीं धर्मशास्त्र के रूप में साक्षात् कर्तव्य–निर्देश करते हुए प्रभुसम्मित उपदेश दिए गए हैं। पाप और पुण्य का विभाजन, भाग्य और उद्योग का परस्पर सम्बन्ध निरूपण, विभिन्न वर्णों तथा आश्रम में रहते हुए कर्तव्य का निर्धारण, उपदेशसंवादों तथा आख्यानों द्वारा दिए गए हैं। दैव (भाग्य) और पुरूषकार (उद्योग) का तादात्म्य इस प्रकार प्रकट किया गया है –

यथा बीजं बिना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम्।[13]
तथा पुरूष कारेण बिना दैवं न सिध्यति।।
क्षेत्रं पुरूषकारस्तु दैवं बीजमुदाहृतम्।
क्षेत्र बीज समायोगात् ततः सस्यं समृद्धयते।।

मनुष्य को अपने किये हुए कर्म का ही फल भोगना पड़ता है, अकृत कर्म का नहीं। सुख पाने के लिए सदा शुभ कर्म करना चाहिए –

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा।[14]
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित्।।

राजा से लेकर आम आदमी तक के कर्तव्य समूह का निर्देश अनुशासन पर्व में दिया गया है। वस्तुतः भारत में ऐसा कोई मानव नहीं है जिसके लिए महाभारत में आचार विषयक उपदेश न हो।

धर्म की विशद चर्चा करते हुए महाभारतकार ने इसके विविध रूप दिए हैं जैसे – सामान्य धर्म, विशिष्ट धर्म तथा आपद्धर्म। सत्य, तपस्या, दया, अहिंसा आदि सामान्य धर्म हैं इनका पालन सभी स्थितियों में करना चाहिए। विशिष्ट धर्म के कई प्रकार हैं जैसे – राजधर्म, स्त्रीधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, कुलधर्म, युगधर्म इत्यादि। आपद्धर्म संकट काल में पालनीय होता है जो सामान्यतः अधर्म के रूप में होता है किन्तु विपत्ति में धर्म का रूप ले लेता है। धर्म को अवसर के अनुसार परिवर्तित करने का भी विधान महाभारत में है क्योंकि सज्जन के साथ यदि सज्जनता दिखाना धर्म है, तो छली के साथ छल का प्रयोग भी धर्म ही है –

यास्मिन्यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।[15]
मयाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः।।

इस प्रकार हम कह सकते हैं महाभारत का यह लचीलापन किंचित रूप बदलकर भारत के संविधान में मौजूद है। श्रीमद् भगवद् गीता में श्रीकृष्ण का कथन –

चातुवर्ण्यं मया सृष्टा गुण कर्म विभागशः।[16]

आज भी सरकारी या अर्धसरकारी सेवा में दिखाई पड़ता है जहां पर प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी, तृतीय श्रेणी तथा चतुर्थ श्रेणी विद्यमान है। जिसमें कोई भी गुणी व्यक्ति चतुर्थ श्रेणी से प्रोन्नति कर प्रथम श्रेणी का अधिकारी बन

सकता है। हमें निःसंकोच यह स्वीकार करना होगा कि महाभारतकार वेदव्यास तथा भारतरत्न डॉ0 भीमराव अम्बेडकर आमजन के हितों के संरक्षण कर्ता हैं तथा महाभारत में वह सब कुछ विद्यमान है जो भारत में है। अस्तु यह लोकोक्ति 'यन्न भारते तन्न भारते' अर्थात् जो बात महाभारत में नहीं है, वह भारत वर्ष में भी नहीं होती शत–प्रतिशत सत्य प्रतीत होती है।

संदर्भ–

1. महाभारत 1.56.52
2. भारत का सांविधानिक विकास और संविधान– डॉ0 सुभाष कश्यप, पृष्ठ 324
3. महाभारत 1.62.53
4. महाभारत 1.1.274
5. भारत का संविधान – प्रस्तावना
6. भारत का संविधान अनुच्छेद 51 क (42वां संशोधन)
7. श्रीमद्भगवद्गीता 2.40
8. श्रीमद्भगवद्गीता 2.47
9. श्रीमद्भगवद्गीता 2.51
10. भारत का संविधान (धारा 12–35)
11. भारत का संविधान (धारा 36–51)
12. महाभारत शान्तिपर्व 85.7
13. महाभारत अनुशासनपर्व 6.7–8
14. महाभारत अनुशासनपर्व 6.18
15. महाभारत 5.37.7
16. श्रीमद्भगवद्गीता 4.13

●●●●

प्रवक्ता– हिन्दी
राजकीय क्वींस कालेज, वाराणसी।

अब तक वाराणसी में सबसे सस्ता

Computer Job Works & Publication

Typing

*HINDI
*ENGLISH
*SANSKRIT

8/- PER PAGE
(Full Space)

"छात्र–हित संस्थान"

पंजाब नेशनल बैंक के पास, प्रफुल्लनगर कॉलोनी, लंका, वाराणसी
सम्पर्क: 9415695663-9453396372-9336465515

शोध-10

'खुली खिड़कियाँ' में स्त्री विमर्श

मीनल सिंह*

सुविख्यात लेखिका मैत्रेयी पुष्पा जी की स्त्री विमर्श पर लिखी पुस्तक 'खुली खिड़कियां' में स्त्रियों की स्थितियों से सम्बन्धित एक–एक बात को बड़े ही संवेदना व तर्कपूर्ण ढंग से उठाया गया है। लेखिका ने अपने विचारों को कहीं बिल्कुल ही सीधे सपाट व्यंग्यात्मक लहजे में तो कहीं तार्किक लहजे में उठाया है। हमारे भारतीय समाज का ताना–बाना पुरुषों ने इस प्रकार बुना कि इसमें स्त्रियों की दशा दोयम दर्जे की हो गई। मैं तो कहूँगी कि यह स्थिति भी स्त्रियों के पल्ले नहीं पड़ी उसे पशु के समान मान उससे पशुवत् काम लेना व व्यवहार करना पुरुषों ने अपना जन्म सिद्ध अधिकार माना। लेखिका भी इस सच को स्वीकार करती हुई लिखती हैं कि हमारे समाज में लावारिस स्त्री की दशा कुत्ते की दशा से बेहतर नहीं होती है। इस सच को सिर्फ वही व्यक्त कर सकता है जिसने बहुत ही संवेदना के साथ इसे महसूस किया हो। पुष्पा जी ने अपने विचारों को कहीं सीधे तो कहीं प्रश्नों के माध्यम से रखा है। एक बानगी दृष्टव्य है–"औरतों को इज्ज़त की नज़र से दुनिया के किस कोने से देखा जाता है।" "पुरुष दौलत लुटा देगा न्याय हरगिज न देगा"।

ऐसे तमाम वक्तव्य पूरी किताब में मोतियों की भाँति बिखरे पड़े हैं। ये शब्द अपने भीतर समुद्र की भाँति अनन्त भाव लहरियों को समेटे हुए हैं जो सीधे गहराई तक पहुँच हमें सोचने के लिए मज़बूर कर देते हैं। पुष्पा जी की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है। सदियों से जिस जकड़न अत्याचार,अपमान यातना की मानसिक प्रताड़ना को स्त्रियों ने झेला है उसे पूरी संवेदना के साथ सिर्फ एक स्त्री ही व्यक्त कर सकती थी। लेखिका अपने इस प्रयास में पूरी तरह सफल हुईं हैं।

पुष्पा जी की पुस्तक 'खुली खिड़कियां' स्त्री–विमर्श पर लिखी गई पुस्तक है। इसे लेखिका ने छः खंडों में बाँटा है। प्रत्येक खण्ड के अलग–अलग नाम हैं– धर्म, संस्कृति, समाज, साहित्य, राजनीति, फिल्म और टेलीविजन। प्रत्येक खण्ड में अलग–अलग शीर्षकों से लिखे गए अनेक लेख संकलित हैं, जो स्त्रियों से सम्बन्धित समस्याओं और उनकी सामाजिक स्थिति को पूरी सच्चाई से व्यक्त करतें हैं।

किताब की शुरूआत में ही लेखिका 'अपनी बात' कहते हुए अपने मन्तव्य को पूरी तरह स्पष्ट कर देती हैं। वे लिखती हैं–इसमें कुछ चिन्ताएँ हैं व कुछ चेतावनियाँ। जो इन चेतावनियों को नहीं मानेंगे या उसके कहे–सुने पर गौर नहीं करेंगे तो अपने दर्शन और सिद्धान्तों को गढ़ते हुए खुद ही पिछड़ जाएंगे।

चिन्ताएँ स्त्रियों की दशा के लिए हैं। इस समाज में कठोर दैहिक श्रम व प्रसव जैसे दुरूह कार्य तो स्त्रियों के लिए बने हैं परन्तु चिन्तन व वीरता जैसे कार्य सिर्फ पुरूषों के लिए। स्त्रियों के पास विचार और अनुभव तो हो सकतें हैं, परन्तु बुद्धि भी हो सकती है ऐसा मानने के लिए पुरुष वर्ग तैयार नहीं। इसलिए समाज में इस विचार–धारा को फैला दिया गया है कि स्त्री समाज चाहे वह शिक्षित हो या अशिक्षित या किसी पद पर आरूढ़ वह सोचने की शक्ति से वंचित है। उसका सोचना या सिर हिलाना मर्यादा तथा शील के विरूद्ध है। वे केवल त्याग, क्षमा, ममता, सहनशीलता तथा उदारता के लिए बनी हैं और जो स्त्री इन मापदण्डों पर अपने आपको खरा नहीं उतारती है,अपने स्वतंत्रता की बात करती है उसे यह समाज बेहया पद से सुशोभित कर देता है। इसी तरह से अनेक विचारों के माध्यम से लेखिका ने हम सोई हुई स्त्रियों व समाज को जगाने का बहुत ही श्रेष्ठ प्रयास किया है।

स्त्रियों की बेचारगी का एक और बाना प्रस्तुत करते हुए पुष्पा जी कहती हैं चूंकि स्त्री सदियों से स्वयं लचीलेपन से गुजरी है इसलिए वह इस पुरुष प्रधान समाज से उसी लचीलेपन की उम्मीद लगा बैठी है तथा मनुष्य के रूप में जन्म लेने वाली मनुष्य से समानता की अपेक्षा रखने लगी है। लेखिका की यह बात हमारे संविधान के उस खोखलेपन को उजागर कर देती है जिसमें स्त्रियों को बराबरी के दर्जे का प्रावधान है।

लेखिका कहीं–कहीं स्त्रीसमाज पर व्यंग्य करते हुए इसे जगाना चाहती हैं तो कहीं वहीं उसकी जागृति की सराहना भी करती हैं। वे कहती हैं कि आज की शिक्षित स्त्री ने "पितृसत्ता के किले की दीवारों में उसने खतरों से खेलते हुए यत्नपूर्वक कुछ झरोखे खोल लिए हैं और अपनी चेतना के बलबूते देखा है। रीति रिवाजों का रूप ऐसी कुरीतियों की तस्वीर है, जिसमें स्त्री का तबाह जीवन दिखाई देता है। पुराने विश्वास अंधविश्वासों में ढल गए हैं।" आज की स्त्री पहले से ज्यादा चेतना सम्पन्न है उन्हें उनके खुद द्वारा बनाए गए सिद्धान्तों व दर्शन को बदलने की चेतावनी दे रही है।

हमारे भारतीय समाज का ताना–बाना भी स्त्रियों को पग–पग पर जकड़ने के लिए ही बना है। पुरुष के लिए स्त्री भोग्या और वंश वृद्धि का साधन मात्र है। विवाह नामक संस्था तथा विवाहोपरान्त होने वाले समस्त धार्मिक (तीज चौथ आदि) आयोजन भी स्त्रियों को गुलामी के जंजीरों में जकड़ने के लिए ही बने हैं। यदि कोई चेतनाशील स्त्री इस पारम्परिक व्यवस्था के खोखलेपन का विरोध करती है तो उसे पूरी तरह खत्म कर दिया जाता है। लेखिका का यह कथन हमारी सामाजिक व्यवस्था के सड़ांध को ही व्यक्त करता है–"कहते हैं कि चींटी के पर निकल आते हैं, तब वह मरने के आस–पास होती है, शायद स्त्री की भी जब चेतना विकसित होने लगती है तो उसके खत्म होने के आसार बढ़ने लगते हैं।" पुष्पा जी स्त्रियों की दयनीय दशा को अभिव्यक्त करते हुए लिखती हैं कि स्त्रियों की न तो कोई जाति होती है न तो कोई वर्ग, सभी स्त्रियों की एक समान पीड़ा है– पराधीनता। वह जन्म से ही वंदिनी है जन्म लेते ही उसे नाना प्रकार से घर की दहलीज से

बाँध दिया जाता है। विवाह होते ही पति की जाति का पट्टा पहना दिया जाता है मानों उसमें बिना उसका अपना कोई अस्तित्व ही न हो। विवाहोपरान्त वह विद्रोहिणी न हो जाय इसलिए उसे नाना प्रकार के धार्मिक आयोजनों व्रत उपवास मातृत्व इत्यादि में उलझा दिया जाता है। उसका सारा साजों श्रृंगार सिर्फ पति के लिए ही होता है उसके पति के मृत्युपरान्त उससे यह जब छीन कर उससे जीने का हक भी यह समाज छीन लेता है। उसे अग्नि के हवाले कर सती माता के जय–जयकार का नारा लगाकर उसे महिमा मंडित कर छला जाता है। यदि वह इस बरजोरी का विरोध कर अपनी स्वतंत्रता चाहती है तो उनकी इस माँग को उसकी यौन स्वच्छन्दता से जोड़ दिया जाता है।

स्त्री स्वतंत्रता भी कोई चीज है इसे पुरुष वर्ग मानने को तैयार नहीं है। इसी के चलते वह उस पर लगातार अत्याचार करता जा रहा है। उसका मानना है स्त्रियों में यदि कोई गुण है तो वह है– झेलने की शक्ति।

सदियों से स्त्रियों को जानबूझकर शिक्षा से वंचित रखा गया ताकि उस पर तरह–तरह के अत्याचार कर उन्हें सही ठहराया जा सके। आज उन्हें शिक्षा का अधिकार भी दिया गया है तो वह भी एक कुचक्र के तहत। स्त्रियों को शिक्षित करने का उद्देश्य उनमें जागृति लाना नहीं वरन् उन्हें इस योग्य बनाना है कि वे पढ़े–लिखे पुरुषों के समाज में उठ–बैठ सकें तथा उनके लिए योग्य वर की तलाश की जा सकें। सिर्फ इतना ही नहीं आज तक हमारे समाज ने जानबूझकर शैक्षिक व आर्थिक ताकत रिक्तों के हाथों में इसलिए नहीं सौंपा क्यों कि उसे निरन्तर डर था कि वह कहं कोई ऐसा फैसला न ले ले जो पुरुषों पर भारी पड़े इसलिए ही उन्होंने प्रधान के रूप में एक ऐसी औरत को खड़ा किया जो बिना दाँत व सींखे के थी क्यों कि उनका मानना था कि जो बेशकर और इतने सालों तक पर्दे में रही वह नीर क्षीर विवेकमय मामलों को कैसे सुलझायेगी।

पुष्पा जी की यथार्थवादी दृष्टि स्त्रियों की इस दशा के लिए सिर्फ पुरुषों को ही नहीं स्त्रियों को भी जिम्मेदार ठहराती है। वे कहतीं हैं स्त्रियाँ भी चुनौतीपूर्ण साहसिक जीवन जीने की अपेक्षा शान्त व सुरक्षित जीवन जीना ज्यादा पसन्द करतीं हैं। वे महिला प्रधान होने की अपेक्षा किसी की बीबी कहलाना तथा किसी बेटे की माँ कहलाना ज्यादा पसन्द करतीं हैं। सत्ता के गलियारे तक पहुँची स्त्रियाँ भी स्त्री समाज के प्रति अपने दायित्व निर्वाह को भूल जाती हैं। लेखिका की पैनी दृष्टि केवल यहीं पर नहीं ठहर जाती है। वे वर्तमान कारणों की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करतीं हैं। दूरदर्शन, सिनेमा, मिस इण्डिया जैसी प्रतियोगिताएँ भी केवल पुरूष मोनोपॉली को ही उजागर करती हैं। सदियों से ही पुरुषों ने स्त्री समाज को शिक्षा व आर्थिक शक्ति से दूर रख उसे गुलाम बनाया है और यह आज भी जारी है।

पुष्पा जी ने यह असमानता देखी है। वे कहतीं हैं आज की स्त्री पहले से ज्यादा सजग व चेतना सम्पन्न हो गयी है। अब वह पुरुषों को ईश्वर नहीं साथी के रूप में देखती है। वह उससे समानता की अपेक्षा रखती है, परन्तु पुरुष ने स्त्री को मनुष्य दर पर देखा ही कहाँ है, जो साथी के रूप में देखें? वह औरत का ईश्वर है, उसने माना है और स्त्री को भी मनवाया है।

खुली खिड़कियां स्त्री समाज का ऐसा दर्पण है जिसे हम नकार नहीं सकते हैं। इसमें स्त्रियों के गुलामी के इतिहास को जिस मानवीय संवेदना के साथ उकेरा गया है, वह अत्यन्त ही सराहनीय है। लेखिका के ही शब्दों में यह पुस्तक हमारे समक्ष यह यक्ष प्रश्न खड़ा करती है कि मौजूदा समय में जब तक रूढ़ परम्पराएं टिकी रहेंगी और पुरुष मानसिकता का बोलबाला बना रहेगा तब तक स्त्री– सशक्तीकरण का अर्थ कहाँ से निकलेगा।

●●●●

प्लॉट नं0– 11, शिवपुरी कॉलोनी,
नगवाँ, लंका, वाराणसी।

आवृत्ति सारणी, एकल प्रतिदर्श सांख्यिकीय, जिसमें मध्यमान, सह–सम्बन्ध, मानक विचलन, मध्यमान की मानक त्रुटि का प्रयोग किया गया है। इसके साथ चरणबद्ध प्रतिगमन प्रारूप, पद निर्धारित करने में निष्कर्षों का सामान्यीकरण के लिए 'टी0' का मान, मानक त्रुटि का आकलन इत्यादि का विश्लेषण किया गया।

आवश्यकता सुविधा के अन्तर्सम्बन्ध का मापन– अध्ययन में एक रेखीय चरणबद्ध प्रतिगमन प्रारूप (Step wise regression) का प्रयोग किया गया।

$Y = {}_0 + {}_1X_1 + {}_2X_2 + \ldots\ldots\ldots\ldots {}_nX_n + {}_1D_1 + {}_2D_2 + \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots + {}_nD_n$

जहाँ, Y = आश्रित चर, X_i = i वॉ निराश्रित चर, i = 1. 2. ..... n

${}_0$ = स्थिरांक, ${}_i$ = i वॉ निराश्रित चर का पराश्रयी गुणांक, i = 1, 2, --------- n

D_i = i वॉ आभासी चर, ${}_i$ = i वा आभासी चर का पराश्रयी गुणांक

आकलन में निम्नलिखित चरों का प्रयोग किया गया है।

(i) आश्रित चर : CPM, SPM, VSMS, GDT (VMI), गामक विकास, सामाजिक एवं व्यावहारिक विकास.....इत्यादि।

(ii) स्वतंत्र चर : आधारभूत संरचना, छात्रों हेतु प्रशिक्षण सुविधाएँ.....इत्यादि।

(iii) आभासी चर : जागरूकता कार्यक्रम, संस्था प्रबन्धन.....इत्यादि।

निराश्रित चरों में से सार्थक व महत्वपूर्ण चरों के चयन एवं क्रमशः उनके प्रतिगमन गुणांक का आकलन करने के लिए चरणबद्ध सांख्यिकीय प्रतिगमन विधि (Stepwise Regression Method) सर्वाधिक उपयुक्त होती है **(Li, 1998)**।

शोध परिणाम एवं व्याख्या :–

आवश्यकता एवं सुविधा में अन्तर्सम्बन्ध : इसमें प्रतिगमन एवं प्रतिगमन गुणांक का विवरण विभिन्न चरों के मध्य दर्शाया गया है। इसमें स्थिरांक, निराश्रित चर, आंकलन की मानक त्रुटि, R^2 और $(Rj^2\text{-}Ri^2)$ का विवरण है। प्रत्येक इकाई के अन्तर्गत क्रमशः मानक त्रुटि 'टी' का मान और पाराश्रयी गुणांक का विवरण है। यदि किसी प्रतिदर्श के लिए 'टी' का मान 1.96 से कम है, तब 5% सार्थकता स्तर पर प्रतिदर्श सांख्यिकी और प्राचल में सार्थक अन्तर नहीं होता है। इसी प्रकार यदि किसी प्रतिदर्श के लिए 'टी' का मान 2.58 है, तब 1% सार्थकता स्तर पर प्रतिदर्श और प्राचल में सार्थक अन्तर नहीं होता है।

गेसेल ड्राइंग टेस्ट कौशल विकास (SKDEV)

सारणी संख्या 3.1. विजुअल मोटर इंटीग्रेशन कौशल को प्रदर्शित करती है।

प्रथम चरण– इस चरण में स्वतंत्र चर संस्था की आधारभूत संरचना के साथ आभासी चर जन जागरुकता कार्यक्रम, परीक्षा बोर्ड, संस्था प्रबन्धन को शामिल किया गया है। इससे प्रतिगमन परिणामों में R^2 का मान 0.48 है। ऑकलन की मानक त्रुटि SEE का मान 20.978008816 है। इससे पता चलता है कि सभी स्वतंत्र एवं आभासी चर मिलकर प्रारूप को 48.0% व्याख्यायित करते हैं।

द्वितीय चरण– इस चरण में प्रथम चरण के सभी स्वतंत्र चरों के साथ यंत्र एवं उपकरण को स्वतंत्र चर के रुप में शामिल किया गया है। इससे प्रतिगमन परिणामों में R^2 का मान 0. 48 से बढ़कर 0.92 हो गया है, और ऑकलन की मानक त्रुटि SEE का मान 20.796541388 है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी स्वतंत्र चर मिलकर प्रारूप को 92.0% व्याख्यायित करते हैं, और यंत्र एवं उपकरण के स्वतंत्र चर के रूप में शामिल होने से प्रारूप की व्याख्यायिता 44.0% बढ़ गयी है।

तृतीय चरण– इस चरण में द्वितीय चरण के सभी स्वतंत्र चरों के साथ छात्रों हेतु प्रशिक्षण सुविधा को स्वतंत्र चर के रूप में शामिल किया गया है। इससे प्रतिगमन परिणामों में R^2 का मान 0.92 से बढ़कर 0.123 हो गया है, और ऑकलन की मानक त्रुटि SEE का मान 20.746481248 है। अतः यह विदित है कि सभी स्वतंत्र चर मिलकर प्रारूप को 12.3% व्याख्यायित करते हैं, और छात्रों हेतु प्रशिक्षण सुविधा को स्वतंत्र चर के रूप में शामिल करने से प्रारूप की व्याख्यायिता –79.7% हो गयी है।

चतुर्थ चरण– इस चरण में तृतीय चरण के सभी स्वतन्त्र चरों के साथ पाठ्यक्रम को स्वतन्त्र चर के रूप में शामिल किया गया है। इससे प्रतिगमन परिणामों में R^2 का मान 0. 123 से बढ़कर 0.187 हो गया है, और ऑकलन की मानक त्रुटि SEE का मान 20.280007784 है। इससे विदित होता है कि सभी स्वतंत्र चर मिलकर प्रारूप को 18.7% व्याख्यायित करते हैं, और पाठ्यक्रम को स्वतंत्र चर के रूप में शामिल करने से प्रारूप की व्याख्यायिता 6.4% बढ़ गयी है।

पंचम् चरण– इस चरण में चतुर्थ चरण के सभी स्वतंत्र चरों के साथ विशेश ध्यान (संस्थाओं द्वारा) स्वतंत्र चर के रुप में शामिल किया गया है। आकलन परिणाम में R^2 का मान 0. 187 से बढ़कर .238 हो गया है, जबकि ऑकलन की मानक त्रुटि SEE का मान 19.953374436 है। इससे स्पष्ट है कि निराश्रित चर और आभासी चर प्रारूप को 23.8% व्याख्यायित कर रहे हैं। इसमें स्वतंत्र चर विशेश ध्यान (संस्थाओं द्वारा) को स्वतंत्र चर के रुप में शामिल करने पर प्रारुप की व्याख्यायिता 5.1% हो गयी है।

षष्ठम् चरण– इस चरण में पंचम चरण के सभी स्वतन्त्र चरों के साथ शिक्षण अधिगम सामग्री को स्वतंत्र चर के रूप में शामिल किया गया है। इससे प्रतिगमन परिणाम में R^2 का मान .238 से बढ़कर .254 हो गया है, और ऑकलन की मानक त्रुटि SEE का मान 20.066361165 है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी स्वतंत्र चर मिलकर प्रारूप को 25.4% व्याख्यायित करते हैं, और शिक्षण अधिगम सामग्री के स्वतंत्र चर के रूप में शामिल होने से प्रारूप की व्याख्यायिता 1.6% हो गयी है।

सप्तम् चरण– इस चरण में षष्ठम् चरण के स्वतंत्र चरों के साथ सम्प्रेषण के माध्यम को स्वतंत्र चर के रूप में शामिल किया गया है। इससे प्रतिगमन परिणामों में R^2 का मान 0. 254 से बढ़कर 0.284 हो गया है, और ऑकलन की मानक

त्रुटि SEE का मान 19.951112130 है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सभी स्वतंत्र चर मिलकर प्रारूप को 28.4% व्याख्यायित करते हैं, और सम्प्रेषण के माध्यम को स्वतंत्र चर के रूप में शामिल करने से प्रारूप की व्याख्यायिता 3.0% बढ़ गयी है।

अष्ठम् चरण– इस चरण में सप्तम् चरण के सभी स्वतंत्र चरों के साथ सहभागिता को स्वतंत्र चर के रूप में शामिल किया गया है। इससे प्रतिगमन परिणामों में R^2 का मान 0.284 से बढ़कर 0.291 हो गया है, और ऑकलन की मानक त्रुटि SEE का मान 20.248798005 है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी स्वतंत्र चर मिलकर प्रारूप को 29.1% व्याख्यायित कर रहे हैं, और सहभागिता के प्रारूप में शामिल होने से प्रारूप की व्याख्यायिता 0.7% बढ़ गयी है।

नवम् चरण– इस चरण में अष्ठम् चरण के निराश्रित चरों के साथ व्यावसायिक को निराश्रित चर के रूप में शामिल किया गया है। इससे प्रतिगमन परिणाम में R^2 का मान 0.291 से बढ़कर 0.292 हो गया है, और ऑकलन की मानक त्रुटि SEE का मान 20.597703925 है। इससे स्पष्ट है कि सभी निराश्रित चर प्रारूप को 29.2% व्याख्यायित करते हैं, और व्यावसायिक के स्वतन्त्र चर के रुप में शामिल होने से प्रारूप की व्याख्यायिता 0.1% हो गयी है।

दशम् चरण– इस चरण में नवम् चरण के सभी निराश्रित चरों के साथ शिक्षकों हेतु प्रशिक्षण सुविधा को शामिल किया गया है। इसके प्रतिगमन परिणाम में यद्यपि R^2 का मान 0.292 से बढ़कर 0.293 हो गया है। इसमें ऑकलन की मानक त्रुटि SEE का मान 20.980121452 है। अतः यह स्पष्ट है कि सभी स्वतंत्र चर मिलकर प्रारूप को 29.3% व्याख्यायित कर रहे हैं। सभी स्वतंत्र चरों को शिक्षकों हेतु प्रशिक्षण सुविधा के रूप में शामिल करने से प्रारुप की व्याख्यायिता पर 0.1% हो गयी है।

एकादश चरण– इस चरण में दशम् चरण के सभी स्वतंत्र चरों के साथ मूल्यांकन को स्वतंत्र चर के रूप में शामिल किया गया है। इससे प्रतिगमन परिणामों में R^2 का मान 0.293 से बढ़कर 0.294 हो गया है, और ऑकलन की मानक त्रुटि SEE का मान 21.381471141 है। अतः यह स्पष्ट है कि सभी स्वतंत्र चर मिलकर प्रारूप को 29.4% व्याख्यायित कर रहे हैं, और मूल्यांकन के स्वतंत्र चर के रूप में शामिल होने से प्रारूप की व्याख्यायिता 0.1% हो गयी है।

उपर्युक्त चरणों की व्याख्या के पश्चात् निहितार्थ रूप में यह कहा जा सकता है कि संस्था की संरचना का प्रतिगमन गुणांक और मानक प्रतिगमन गुणांक का मान क्रमशः –1.063 और –.813 है। सारणी से विदित होता है कि सभी चरणों में संस्था की संरचना के प्रतिगमन गुणांकों का मान नकारात्मक है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि विद्यालयों की संस्थागत संरचना का बच्चों के कौशल विकास (वी0एम0आई0) पर नकारात्मक प्रभाव है। अतः इसमें बदलाव की आवश्यकता है।

यंत्र एवं उपकरण का प्रतिगमन गुणांक और मानक प्रतिगमन गुणांक क्रमशः 1.039 और 0.790 है। सारणी से पता चलता है कि सभी चरणों में यंत्र एवं उपकरण के गुणांकों का मान सकारात्मक है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विद्यालयों में उपलबध यंत्र एवं उपकरण बच्चों के लिए उपयुक्त हैं, और उनके कौशल विकास (वी0एम0आई0) को सकारात्मक रूप से प्रभावित कर रहे हैं।

छात्रों हेतु प्रशिक्षण सुविधा का प्रतिगमन गुणांक और मानक प्रतिगमन गुणांक का मान क्रमशः 0.222 और 0.410 है। सारणी से स्पष्ट है कि छात्रों हेतु प्रशिक्षण सुविधा के गुणांकों का मान प्रत्येक चरण में सकारात्मक है। इससे स्पष्ट है कि सम्भवतः छात्रों हेतु प्रशिक्षण सुविधा बच्चों के कौशल विकास (वी0एम0आई0) को सकारात्मक रूप से प्रभावित करती है।

पाठ्यक्रम का प्रतिगमन गुणांक और मानक प्रतिगमन गुणांक क्रमशः –.596 और –.319 है। सारणी से विदित है कि सभी चरणों में पाठ्यक्रम के प्रतिगमन गुणांकों का मान नकारात्मक है, और इनके मान में क्रमिक रूप से वृद्धि हुई है। इससे स्पष्ट है कि सम्भवतः विद्यालयों में पाठ्यक्रम निर्धारण की पद्धति व प्रक्रिया बच्चों के कौशल विकास (वी0एम0आई0) को नकारात्मक रुप से प्रभावित कर रही है।

विशेष ध्यान (संस्थाओं द्वारा) का प्रतिगमन गुणांक और मानक प्रतिगमन गुणांक क्रमशः –.237 और –.291 है। सारणी से स्पष्ट है कि इन गुणांकों का मान सामान्य तौर पर क्रमिक रूप से बढ़ा है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि संस्थाओं द्वारा बच्चों पर विशेष ध्यान, बच्चों के कौशल विकास (वी0एम0आई0) पर नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है और यह प्रभाव अन्य चरों के प्रभाव में और बढ़ता जा रहा है। अतः यह कहा जा सकता है, कि सम्भवतः संस्थाओं द्वारा विशेष ध्यान देने की प्रक्रिया उपयुक्त नहीं है, और इनमें बदलाव की आवश्यकता है। स्टिन्सन (1996), चार्ल्सन व अन्य (1992), लोएब वं सैरीग्नी (1986) के अनेक अध्ययनों के प्रतिवेदनानुसार बधिर बच्चों का सामान्य श्रवण क्षमता वाले बच्चों से सामाजिक अलगाव पाया गया।

शिक्षण अधिगम सामग्री का प्रतिगमन गुणांक और मानक प्रतिगमन गुणांक क्रमशः –.335 और –.270 है। सारणी से स्पष्ट है कि सभी चरणों में शिक्षण अधिगम सामग्री में गुणांकों का मान नकारात्मक है, और इसके मान में सामान्यतः क्रमिक रुप से वृद्धि हुयी है, इससे स्पष्टतः कहा जा सकता है कि विद्यालयों में उपलब्ध और शिक्षण में प्रयुक्त शिक्षण अधिगम सामग्री का बच्चों के कौशल विकास (वी0एम0आई0) पर नकारात्मक प्रभाव है। अतएव इनमें बदलाव की अत्यधिक आवश्यकता है।

सम्प्रेषण के माध्यम का प्रतिगमन गुणांक और मानक प्रतिगमन गुणांक क्रमशः 0.348 और 0.240 है। सारणी से स्पष्ट है कि प्रत्येक चरण में सम्प्रेषण के माध्यम का मान क्रमशः बढ़ रहा है। इससे स्पष्ट है कि विद्यालयों में प्रयुक्त सम्प्रेषण के माध्यम बच्चों के कौशल विकास (वी0एम0आई0) को सम्भवतः सकारात्मक रूप से प्रभावित

करते हैं।

सहभागिता का प्रतिगमन गुणांक और मानक प्रतिगमन गुणांक क्रमशः –.086 और –.072 है। सारणी से पता चलता है कि प्रत्येक चरण में सहभागिता के गुणांकों का मान नकारात्मक है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है, कि सहभागिता प्रक्रिया का बच्चों के कौशल विकास (वी0एम0आई0) पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

व्यावसायिक का प्रतिगमन गुणांक और मानक प्रतिगमन गुणांक क्रमशः –.057 और –.067 है। सारणी से विदित है कि इन गुणांकों का मान नकारात्मक है, और क्रमिक रूप से बढ़ा है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विद्यालय में व्यावसायिकों की उपलब्धता का बच्चों के कौशल विकास (वी0एम0आई0) पर नकारात्मक प्रभाव है, और अन्य प्रभावी कारकों की उपस्थिति में इनके प्रभाव में वृद्धि होती है।

शिक्षकों हेतु प्रशिक्षण सुविधा का प्रतिगमन गुणांक और मानक प्रतिगमन गुणांक क्रमशः –.040 और –.038 है। सारणी से स्पष्ट है कि सभी चरणों में शिक्षकों हेतु प्रशिक्षण सुविधा के गुणांकों का मान नकारात्मक है, और इनके मान में सामान्यतः क्रमिक रूप से वृद्धि हुई है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विद्यालय में शिक्षकों हेतु प्रशिक्षण सुविधा की उपलब्धता का बच्चों के कौशल विकास (वी0एम0आई0) पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

मूल्यांकन का प्रतिगमन गुणांक और मानक प्रतिगमन गुणांक क्रमशः –.052 और –.037 है। सारणी से स्पष्ट है कि प्रत्येक चरण में मूल्यांकन के गुणांकों का मान नकारात्मक है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि मूल्यांकन पद्धति का बच्चों के कौशल विकास (वी0एम0 आई0) पर नकारात्मक प्रभाव है।

सभी निराश्रित चर प्रारुप को मात्र 29.4% व्याख्यायित करते हैं। सामान्य स्थिरांक का मान 131.990 है। इससे स्पष्ट है कि सम्भवतः अन्य कारक बच्चों के श्रवण क्षति का स्तर, सामाजिक परिवेश, मानकीकृत विद्यालय, पुनर्वास की प्रकिया इत्यादि कौशल विकास (वी0एम0आई0) को अधिक प्रभावित करते हैं। जागरूकता कार्यक्रम के नकारात्मक गुणांकों से स्पष्ट है कि इनके प्रभाव में सामान्य स्थिरांक का मान घट जाता है, जबकि संस्था प्रबन्धन, परीक्षा परिषद के सकारात्मक मान से इसके प्रभाव में सामान्य स्थिरांक का मान बढ़ जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जन जागरूकता कार्यक्रम के प्रभाव से अन्य कारकों का कौशल विकास (वी0एम0आई0) से प्रभाव घट सकता है। अतः बच्चों के लिए उपर्युक्त जागरूकता कार्यक्रम की आवश्यकता है। परीक्षा परिषद, संस्था प्रबन्धन के प्रभाव में सामान्य स्थिरांक के मान घटने से स्पष्ट है कि सम्भवतः विभिन्न परीक्षा परिषदों द्वारा तैयार प्रश्नों का मापदण्ड अलग–अलग है, और इस कारण से बच्चों के कौशल विकास (वी0एम0आई0) को व्याख्यायित करने में अन्य कारकों का महत्व बढ़ गया है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि परिकल्पना संख्या 3.1 श्रवण विकलांग बच्चों में मनोवैज्ञानिक VMI तथा सुविधाओं में अन्तर्सबन्ध सार्थक समस्या नहीं है को निरस्त की जाती है।

निहितार्थ :–

1. शैक्षणिक पुनर्वास के लिए श्रवण विकलांग बच्चों हेतु संख्यानुपात में विद्यालय खोले जाय, जिसमें प्री–स्कूल से उच्च स्तर की शिक्षा प्रदान की जाय।
2. सामान्य विद्यालयों में समेकित शिक्षा की व्यवस्था की जाय।
3. बच्चों की संख्यानुपात में शिक्षक प्रशिक्षण केन्द्र बढ़ाये जाय, ताकि पर्याप्त शिक्षक तैयार हो सके, एकभाषीय सूत्र को लागू किया जाय।
4. वैयक्तिक श्रवण यंत्रों की विशेष व्यवस्था की जाय तथा Oral-Aural सम्प्रेषण के माध्यम पर ज्यादा जोर दिया जा सके। सभी विद्यालयों में सामूहिक श्रवण यंत्र, ऑडियोमीटर, वाणी प्रशिक्षक यंत्र की व्यवस्था की जाय।
5. कक्षाओं में श्रवणवर्द्धक यंत्रों के नियमित प्रयोग पर ओरिएन्टेशन कार्यक्रम निर्धारित किये जाय, जिसमें शिक्षकों का भाग लेना अनिवार्य हो।
6. शैक्षिक पुनर्वसन हेतु प्रत्येक वर्ष सेमिनार, वर्कशाप पर जनसंचार के माध्यम से चर्चा करायी जाय, इसमें अभिभावकों की भागीदारी सुनिश्चित की जाय।

सन्दर्भ–

Alpiner, J. G., Mc. Carthy, P.A., (1993), Rehabilitative Audiology Children and Adults, 2nd Edition, Williams & Wilkins Baltimore.

Bolton, B., (1976), Psychology of Deafness for Rehabilitation Counsellers, University Park Press, Baltimore.

Brouillette, R. Harris, D. et al., (1993), Special Needs Education, First Edition, Kogan Page Limited, London.

Erber N.P., (1982), Auditory Training, Alexander Graham Bell Association for the Deaf, Washington D.C.

Hurlock, Elizabeth B., (1997), Child development, Tata Mc Graw-Hill, Publishing Company Limited, Sixth Edition, pp, 161-172, 137-146, 386-395.

Journal of Rehabilitation Council of India, (2005), Kanishka Publishers Daryaganj, New Delhi, January, Vol-1, No-1.

Kundu, C.L., (2003), Disability Status India, Rehabilitation Council of India, New Delhi, pp, 81-85, 102, 163, 164, 183, 188-189.

Myklebust, H.R., (1964), The Psychology of Deafness, 2nd Edition, Grune and Stration, Publishers, New York.

अग्रवाल आशा, (2007), विशिष्ट बालक, आलोक प्रकाशन अमीनाबाद, लखनऊ, (नवीन संस्करण), पृ0, 17–31, 124–129.

कुमार संजीव, (2008), विशिष्ट शिक्षा, जानकी प्रकाशन पटना, प्रथम संस्करण, पृ0, 21–192

भारत का राजपत्र, (1996), अधिसूचना असाधारण, अपंग व्यक्तियों के लिए समान अवसर, अधिकारों की रक्षा एवं पूर्णभागीदारी अधिनियम 1995, नई दिल्ली।

सम्प्रेषण, (2007), समावेशी शिक्षा के अन्तर्गत श्रवण बाधिता विषय आधारित दस दिवसीय शिक्षक प्रशिक्षण संदर्शिका, बिहार शिक्षा परियोजना परिषद, पटना।

●●●●

*प्रवक्ता, शिक्षा संकाय, का.हि.वि.वि., वाराणसी

**रीडर, शिक्षा संकाय, यू.पी. कॉलेज, वाराणसी

शोध-12

धर्मसूत्रों में शिल्प उद्योग

श्वेता कुमारी*

किसी भी देश के आर्थिक विकास में कृषि के साथ–साथ उस देश में विकसित शिल्प उद्योगों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। यदि भारतीय इतिहास का प्राचीन काल देखा जाये, जब विश्व के अनेक देश असभ्य या अर्द्धसभ्य थे उस समय में भी भारतीय जन–जीवन में किसी न किसी प्रकार का व्यवसाय प्रचलित था। भारतीय उत्पाद की विश्व के अनेक देशों में माँग थी। इससे न केवल भारतीय क्षमता और कौशल को प्रभावित किया अपितु इसकी आर्थिक उन्नयन में भी इसका योगदान रहा। ई0 पू0 छठीं शताब्दी के बाद की कालावधि में कई उद्योगों/व्यवसायों में विशिष्टीकरण हुआ। अनेक नये शिल्पों का जन्म हुआ और प्रमुख व्यवसाय श्रेणियों में संगठित हुए। जातक कथाओं में बढ़इयों, बुनकरों, कुम्भकारों, लोहारों, वणिजों, दंतकारों के पृथक ग्राम तथा बड़े नगरों के विवरण प्राप्त होते हैं। गौतम के अनुसार कृषक, व्यापारी, पशुपालक एवं महाजन, शिल्पी देश, जाति तथा अपने कुल धर्म को प्रमाण मानते हुए अपने लिए स्वयं नियम बना सकते थे।

इस काल में वस्त्र उद्योग में अभूतपूर्व उन्नति हुई। ऊनी वस्त्रों के अतिरिक्त सूती एवं रेशमी वस्त्रों का भी निर्माण एवं प्रयोग किया जाने लगा। कपड़े के व्यापारियों (दुस्सीकस) का भी उल्लेख मिलता है। बुनकर के लिए 'तंतुवाय' शब्द आया है। विवेच्यकाल के साक्ष्यों में कपास एवं सूती वस्त्रों के विषय में पर्याप्त सूचनाएँ प्राप्त होती है। कपास के लिए 'कपासी', 'तूली', 'कप्पासिक' एवं 'तूल' शब्द आये हैं।[2] संकटकाल में वैश्य वृत्ति अपनाने वाले ब्राह्मण को बिना रंगा हुआ सूत एवं रुई का धागा बेचने की अनुमति थी। रेशमी वस्त्रों के अभाव में यजमान और उसकी पत्नी सूती या ऊनी कपड़े पहन सकते थे।[3] बौधायन ने ऊन के व्यापार को उत्तर भारत के लोगों के आचरणों में शामिल किया है।[4] साधारण ऊन तथा कुतप (पर्वतीय बकरे का उत्तम ऊन) से निर्मित उत्तम कंबलों के अतिरिक्त धर्मसूत्रों में यह भी बताया गया है कि ऊनी कंबलों की सफाई शुद्ध रीठे से और दूसरे ऊनी वस्त्रों की केवल धूप से हो जाती थी।[5]

सामान्यतया रेशमी वस्त्र तथा रेशम के लिए 'क्षौम' एवं 'कौसेय' शब्द आया है। रेशमी वस्त्रों का प्रयोग शासक एवं समाज के समृद्ध लोग ही करते थे किन्तु यज्ञ के समय यजमान एवं उसकी पत्नी द्वारा भी रेशमी वस्त्र धारण करने का प्रावधान किया गया था।[6] गौतम के अनुसार वैश्य वृत्ति अपनाने वाले ब्राह्मण को रेशमी वस्त्र का व्यापार नहीं करना चाहिए।[7] काशी के रेशमी वस्त्रों का मूल्य 10,000 निश्क एक कहावत बन गई थी और एक रानी द्वारा 1,00,000 मुद्रा देकर एक रेशमी वस्त्र खरीदने का उल्लेख प्राप्त है। इस काल के साक्ष्यों में रंग का रजक तथा रजकविथी के भी उल्लेख आये हैं। रजकविथी में विभिन्न रंगों के वस्त्र देखे जा सकते थे। एक जातक में वस्त्र रंगने की प्रक्रिया भी वर्णित है।[8] अन्य साक्ष्यों में लाल पगड़ी, बहुरंगी वस्त्र, लाल, पीले, नारंगी रंगों के कंबलों और पर्दों के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[9]

विवेच्यकालावधि में लोहे का प्रयोग व्यापक हो गया था और लौहकार हल्के फाल, हथौड़े, कुदाल, कुल्हाड़ी, अंकुश, तलवार तथा अन्य बहुत सी वस्तुएँ बनाता था। लोहे के भोजन पात्र[10], स्त्री प्रतिमा[11], छड़[12] के उल्लेखों के अतिरिक्त धनुषकार द्वारा भट्टी में लोहे के बाण बनाने का भी विवरण है। इस काल में विभिन्न राजवंशों के शासकों ने बड़ी संख्या में ताँबे की आहत मुद्राएँ जारी की थी। ताँबे का धार्मिक महत्व था। गृहसूत्रों में चूड़ाकर्म संस्कार के अवसर पर ताँबे के उस्तरे से क्षौरकर्म किये जाने का प्रावधान किया गया था।[13] काँसे के पात्रों के भी उल्लेख है।[14] गौतम धर्मसूत्र में प्रायश्चित स्वरुप सीसे का दान करने की बात कही गई है।[15]

सोने तथा चाँदी के आभूषण, पात्र एवं अन्य मूल्यवान वस्तुएँ बनायी जाती थी। इस काल में भारत में सोना पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध था। स्वर्णकार एवं मणिकार के अतिरिक्त केवल सिश का स्वर्णाभूषण बनाने वाले कारीगर का उल्लेख प्राप्त होता है। राजघरानों तथा समृद्ध लोगों के हाथियों और घोड़ों की साज–सज्जा सोने की जालियों से बनायी जाती थी। इस काल में हजारों की संख्या में चाँदी के आहत सिक्के जारी किये गये थे। बौधायन ने सोने, चाँदी एवं ताँबे के बर्तनों एवं आभूषणों को तेजाब से साफ करने की सलाह दी है।[16]

कृषि के अभूतपूर्व विकास तथा बड़ी संख्या में नगरों के आविर्भाव के कारण काष्ठ उद्योग का भी विकास हुआ। जातक कथाओं से पता चलता है कि बढ़ई अन्य जाति के लोगों के साथ गाँव में ही रहते थे। भमकार लकड़ी की विशिष्ट वस्तुओं के बनाने में दक्ष होता था। बढ़ई के औजारों में कुठारी, बसुला, छेनी प्रमुख थे। लकड़ी की नाप–जोख के लिए धागे का प्रयोग करता था। इस काल के साक्ष्यों में लकड़ी के रथ[17], गाड़ियाँ[18], नाँव[19], मूसल और कृशि उपकरण[20], चारपाई[21], खड़ाऊ एवं हाथी आदि खिलौनों[22] का उल्लेख प्राप्त होता है। 500 बढ़इयों के एक साथ रहने तथा इनके पृथक गाँव के विवरण से यह भी संकेत मिलता है कि वे श्रेणियों में संगठित थे और उनकी संख्या काफी थी।

धर्मसूत्रों में हाथी दाँत की वस्तुओं के शुद्धिकरण के नियमों के विवरणों से अप्रत्यक्ष संकेत मिलता है कि हाथी

दाँत से बनायी जाने वाली विलासिता की विविध वस्तुओं की संख्या में वृद्धि हुई थी।[23] विवेच्यकाल में वाराणसी हाथी दाँत के उद्योग का महत्वपूर्ण केन्द्र था। हाथी दाँत के टुकड़ों को आभूषणों तथा अन्य वस्तुओं में जड़कर उन्हें आकर्षक बनाया जाता था तथा हाथी दाँत के बनी विलासिता की वस्तुओं को अन्य देशों को भी निर्यात किया जाता था।

चर्म उद्योग में भी उन्नति हुई। चर्म के लिए पशुओं का शिकार किया जाता था। चमड़े की सफाई करने के उपरान्त इसे काट–छाँटकर थैले, बोरियाँ, मशक, रस्सी, चाबुक तथा जूते आदि बनाये जाते थे। चर्म का धार्मिक महत्व भी था। राजसूर्य यज्ञ सम्पन्न करने वाला सुअर की झाल के जूते पहनता था।[24] ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य ब्रह्मचारी के लिए क्रमशः काले हिरन, चितकबरे हिरन और बकरे के चर्म धारण करने का प्रावधान किया गया था।[25] लाल बैल का चर्म धार्मिक कृत्य सम्पन्न करने के लिए विशेश रुप से उपर्युक्त माना जाता था।[26]

जातक कथाओं में कुम्भकारों द्वारा बर्तन बनाने के लिए नदी, झील एवं तड़ाग के किनारे मिट्टी खोदने, चाक पर बर्तन बनाने, उन्हें सुखाने तथा पकाने, विभिन्न रंगों तथा डिजाइनों में अलंकृत करने के विवरण मिलते हैं।[27] भिशग, शल्य चिकित्सक, नट, नर्तक, शंख, सीप से निर्मित विभिन्न वस्तुएँ बनाने वालों के भी उल्लेख आये हैं।[28]

धर्मशास्त्रकारों ने केवल शिल्प एवं व्यवसायों के प्रति रुढ़िवादी दृष्टिकोण अपनाया अपितु नट, धोबी, मद्यविक्रेता तथा बधिक के साथ–साथ नाई, चारण, चिकित्सक, स्वर्णकार, लोहार, शस्त्र विक्रेता, बुनकर, तेली, बढ़ई, रजक, रंगरेज का भी अन्य अभोज्य मान लिया जिससे इनकी सामाजिक प्रतिष्ठा समाप्त प्रायः हो गयी और केवल शूद्र जाति को ही विभिन्न शिल्पों में लगाने का प्रावधान किया। महाजनी और कृषि द्वारा जीवन यापन करने से उच्च वर्ग के लोगों की प्रतिष्ठा गिर जाती है। गोपालन, वाणिज्य, शिल्प, कलाबाजी, संदेशवाहक का कार्य और दासता जैसी वृत्तियों में लगे ब्राह्मणों से शूद्रव्रत व्यवहार किया जाना चाहिए। याज्ञवल्क्य के अनुसार आपत्तिकाल में वैश्य की वृत्ति अपनाने वाले ब्राह्मण को भी अतसी के रेशों, बकरे के बालों, रेशम से बने वस्त्र और नील का विक्रय नहीं करना चाहिए परन्तु धर्मसूत्रकारों के उपर्युक्त प्रावधान केवल सैद्धान्तिक थे, व्यवहारिक नहीं। कारीगर के हाथ तथा व्यापारिक वस्तुएँ सदैव शुद्ध रहते हैं। मनु ने जीविका के दस साधनों में शिल्प को दूसरे स्थान पर रखा है।

उपरोक्त विवेचना से यह निष्कर्ष निकलता है कि धर्मसूत्रों में वर्णित शिल्प उद्योग में लगे लोग आर्थिक दृष्टि से चाहे जितनी भी समृद्ध प्राप्त कर ले सामाजिक प्रतिष्ठा में कोई वृद्धि नहीं कर पाये थे।

पाद टिप्पणी–

1. गौतम धर्मसूत्र, 11/20–21।
2. बौधायन धर्मसूत्र, 2/7/13/1।
3. वही, 2/1/2/17, 1/6/13/10।
4. वही, 1/1/2/4।
5. वही, 1/5/8/34–35।
6. वही, 1/6/13/10।
7. गौतम धर्मसूत्र, 7/8–9।
8. जातक, भाग 4, पृ0 81।
9. गौतम धर्मसूत्र, 1/19–20; बौधायन धर्मसूत्र, 1/16/13/9।
10. वही, 28/7।
11. बौधायन धर्मसूत्र, 2/1/1/13; आपस्तम्भ धर्मसूत्र, 1/9/25/2।
12. गौतम धर्मसूत्र, 22/25।
13. आश्वलायन गृहसूत्र, 1/19/9।
14. आपस्तम्भ धर्मसूत्र, 1/5/17/1।
15. गौतम धर्मसूत्र, 22/23।
16. बौधायन धर्मसूत्र, 1/5/8/28।
17. गौतम धर्मसूत्र, 9/44; आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2/6/14/8।
18. बौधायन धर्मसूत्र, 1/2/3/35।
19. वही, 1/2/3/35; गौतम धर्मसूत्र, 10/33।
20. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2/1/1/15।
21. गौतम धर्मसूत्र, 24/4।
22. बौधायन धर्मसूत्र, 1/1/1/11।
23. वही, 1/5/8/4; गौतम धर्मसूत्र, 1/10।
24. कात्यायन श्रौतसूत्र, 15/6/24; बौधायन श्रौतसूत्र, 12/12।
25. गौतम धर्मसूत्र, 1/116; बौधायन धर्मसूत्र, 1/2/3/15।
26. आश्वलायन गृहसूत्र, 1/8/9।
27. जातक, भाग 2, पृ0 178।
28. बौधायन धर्मसूत्र, 1/6/14/9; 1/5/8/39 एवं 41।

●●●●

*शोध छात्रा, इतिहास विभाग
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

शोध-13

निर्मल वर्मा के कथासाहित्य में जीवन-मृत्यु के तनावपूर्ण एवं आत्मीय सम्बन्ध

आलोक राय*

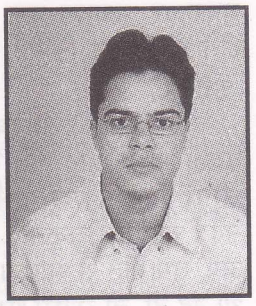

"हमें समय के गुजरने के साथ-साथ अपने लगावों और वासनाओं को उसी तरह छोड़ते चलना चाहिए, जैसे साँप अपनी केंचुल छोड़ता है..... और पेड़ अपने पत्तों और फलों का बोझ.....। जहाँ पहले प्रेम की पीड़ा वास करती थी, वहाँ सिर्फ खाली गुफा होनी चाहिए, जिसे समय आने पर सन्यासी और जानवर दोनों छोड़कर चले जाते हैं। बूढ़ा होना..... क्या यह धीरे-धीरे अपने को खाली करने की प्रक्रिया नहीं है?अगर नहीं है तो होनी चाहिए..... ताकि मृत्यु के बाद जो लोग तुम्हारी देह को लकड़ियों पर रखें, उन्हें कोई भार महसूस न हो और अग्नि को भी तुम पर ज्यादा समय न गँवाना पड़े क्योंकि तुमने अपने जीवनकाल में ही अपने भीतर वह सब जला दिया है, जो लकड़ियों पर बोझ बन सकता था.....।"

-निर्मल वर्मा

निर्मल वर्मा की डायरी का यह अंश उन्हें उस समूची भारतीय परिपाटी से जोड़ता है जिसमें 'निवृत्ति' को सबसे महत्त्वपूर्ण माना गया है। यह निवृत्ति कहीं से भी भागना नहीं, बल्कि यह जिन्दगी से लगकर, जिन्दगी को जीकर, पूरे आश्वासन के साथ छोड़ना है। 'निवृत्ति' के इसी रास्ते पर व्यक्ति बढ़ना शुरू करता है, तो वहीं से खुद जिन्दगी उसको जीना शुरू करती है। वे और उनकी जिन्दगी इसी रास्ते पर एक-दूसरे को जी भरकर जीते रहे हैं। इसी प्रक्रिया में उन्हें वह भरोसा मिलता है जिसमें वे स्वयं कहते हैं कि, "हर रोज कोई मेरे भीतर कहता है, तुम मृत हो। यही एक आवाज है, जो मुझे विश्वास दिलाती है कि मैं अब भी जीवित हूँ।" उनका सारा कथासाहित्य इसी 'जीने की प्रक्रिया' है।

मृत्युबोध और जिजीविषा- इन दोनों शब्दों का सम्बन्ध ही चिरन्तन मानव से है। जबसे मनुष्य है, तभी से ये दोनों धारणाएँ उसके साथ जुड़ी हुई हैं। आदिम संवेदन होने पर भी इन्हें मानवीय संवेदनाओं के रूप में सुन्दर अभिव्यक्ति तो नये कथासाहित्य में ही मिली है। निर्मल वर्मा के कथासाहित्य में हमें ये दोनों धारणाएँ अत्यन्त प्रबल रूप में मिलती हैं। वहाँ जिजीविषा भी उतनी ही प्रबल है, जितना मृत्युबोध। कई जगह ऐसा भी होता है कि जहाँ मृत्यु का भय सामने होता है, वहाँ जिजीविषा भी अपने तीव्रतम रूप में आती है। 'वे दिन' की रायना का अतीत युद्ध में गुजरा है, जहाँ हर पल मौत सामने होती थी, उसने कभी नहीं सोचा था कि वह बच सकेगी। वह बच गयी थी, लेकिन जिन्दा लाश के समान। मृत्यु के भय और आतंक ने उसे जिन्दगी से कोसों दूर लाकर खड़ा कर दिया था, जो हर पल उसके दिलोदिमाग पर छाया रहता था - "मरना तब बहुत पास था और आसान भी। हम शायद इसीलिए साथ रहने लगे थे..... लड़ाई में बहुत लोग मरते हैं - इसमें कुछ अजीब नहीं है..... लेकिन कुछ चीजें हैं जो लड़ाई के बाद मर जाती हैं - शान्ति के दिनों में.... हम उनमें से थे।"[1]

निर्मल वर्मा का हर पात्र कहीं-न-कहीं इन दोनों धारणाओं के बारे में अपनी राय अवश्य देता है - यानी प्रत्येक में जितनी प्रबल जिजीविषा होती है, वहीं एक कोने में मृत्यु का भय भी बना रहता है। 'डेढ़ इंच ऊपर' का मुख्य पात्र अन्य किसी पात्र से कहता है- "रात के तीन बजे..... यह भयानक घड़ी है, मैं तो आपको अनुभव से कहता हूँ, दो बजे लगता है अभी रात है, और चार बजे सुबह होने लगती है लेकिन तीन बजे आपको लगता है कि आप न इधर हैं, न उधर। मुझे हमेशा लगता है कि मृत्यु आने की कोई घड़ी है तो यही घड़ी है।"[2] आगे वह यह भी कहता है कि "भयानक चीज मरना नहीं है। लाखों लोग रोज मरते हैं और आप चूँ भी नहीं करते। भयानक चीज यह है कि मृत आदमी अपना भेद हमेशा के लिए अपने साथ ले जाता है और हम उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। एक तरह से वह हमसे मुक्त हो जाता है।"[3] यहाँ इस पात्र में जितना मृत्यु का भय है, जिजीविषा भी उतनी ही प्रबल है। वह कहता है, "हमें जी भरकर जीना चाहिए क्योंकि सौ बरस बाद हम इस दुनिया में नहीं होंगे।"[4] इसी प्रकार 'अन्तिम अरण्य' में भी निर्मल वर्मा एक पात्र के माध्यम से कहते हैं - "मौत से ज्यादा खौफ़नाक यह बात है कि तुम कभी मरोगे नहीं, हमेशा के लिए जीते जाओगे। है न भयानक चीज?"[5] उनका भय कुछ अलग तरह का है, जहाँ मृत्यु एक रहस्य बन जाती है और उसका रहस्य हमेशा-हमेशा के लिए दब जाता है।

जीवन के प्रति यह गहरा लगाव निर्मल वर्मा की अनेक कहानियों-उपन्यासों में मिलता है। उनके पात्र जीवन की दुःखान्त स्थिति को खुशी-खुशी जीते हैं। 'डायरी का खेल' की बिट्टो तपेदिक की मरीज है। उसे मृत्यु कभी भी अपने शिकंजे में जकड़ सकती है, बावजूद इसके वह कहती है - "मरने से पहले बहुत जी भरकर जीना चाहिए, बब्बू..... जैसे हम पहली बार जी रहे हों, जैसे हमसे पहले कोई न जिया हो।"[6] जीवन की यह लालसा एक ओर मृत्यु की भयंकरता को उग्र करती है तो दूसरी ओर अजेय जीवनशक्ति का भी आभास दिलाती है और यही जीवनशक्ति निर्मल वर्मा के नारी पात्रों को उनके समकालीन कथाकारों के नारी पात्रों से अलग करती है। 'एक चिथड़ा सुख' की बिट्टी इसका एक अन्य उदाहरण है जो थियेटर की दुनिया में अस्तित्व की लड़ाई, भीड़ में अकेलेपन की आहट पाकर भी अपनी जिजीविषा के चरम

पर पहुँचकर ही महानगर में जीने का अदम्य साहस जुटा पाती है। कहना न होगा, ''निर्मल वर्मा की नारियाँ दुःख को सिगरेट की कशों की तरह पी जाती हैं, कभी आत्महत्या का विचार भी मन में नहीं लातीं, वहीं उनके पुरुष पात्र दुःख से घबराकर पलायन कर जाते हैं, नित्तीभाई आत्महत्या कर लेते हैं लेकिन निर्मल वर्मा की नारियाँ अन्त तक लड़ती रहती हैं।''[7]

इस जिजीविषा में जीने की आकांक्षा के साथ वेदना भी है और मौत को सामने देखते रहने के बावजूद जीना, स्वयं में एक गम्भीर यातना है, जहाँ कोई किसी की मदद नहीं कर सकता। लेकिन, उससे जूझने के बाद अगर लगे, तुम मौत से सामना हो जाने के बाद जिन्दगी की तरफ आ रहे हो, तो उससे भयंकर खुशी और क्या हो सकती है। 'लन्दन की एक रात' का वाचक उस अनुभूति को सहज–संवेद्य शब्दों में कहता है, जब मौत उसके बिल्कुल पास थी, उसे लग रहा था कि मारने वाला उसे जिन्दा नहीं छोड़ेगा – ''कुछ नहीं होगा..... मैंने सोचा..... वह मुझे छोड़ेगा नहीं..... और तब मुझे लगा जैसे अब मैं साँस नहीं ले सकूँगा। किन्तु यह गलत था, हर दूसरी साँस उसकी गिरफ्त से अपने को छुड़ाकर ऊपर आती थी और फिर मुझसे चिपक जाती थी और मैं सोचता था, यह आखिरी है, लेकिन तीसरी साँस फिर छटपटाते हुए अपने को दूसरी साँस के पिंजरे से छुड़ा लेती थी और मुझे आश्चर्य हुआ कि कोई भी साँस पीछे रहकर आखिरी नहीं बनना चाहती..... और तब एक भयंकर–सी खुशी ने मुझे अपने में लपेट लिया।''[8]

जीवन और मृत्यु का एक अनिवार्य और आत्मीय सम्बन्ध निर्मल वर्मा की कृतियों में ''हर बार कोई अलग और नयी अन्तर्दृष्टि लिए उतरता है।''[9] इस शाश्वत सत्य के प्रति उनकी जीवन–दृष्टि अनेक पात्रों के माध्यम से व्यक्त हुई है – रायना, छोटे, बिट्टी, नित्तीभाई आदि के द्वारा। 'एक चिथड़ा सुख' की बिट्टी कहती है, ''अगर कोई इतना कष्ट झेलकर दुनिया छोड़ता है तो वे लोग जो दुनिया में रह जाते हैं, उन्हें कुछ करना चाहिए।''[10] और कभी वह इस प्रश्न को खड़ा करती है कि, ''मरे हुए लोगों का दुःख कहाँ जाता है?''[11] इस तरह मृत्यु और जीवन से रचनाकार की बहस का सिलसिला जारी रहता है।

'लालटीन की छत' के छोटे और काया बिल्कुल ही भिन्न दृष्टिकोण से मृत्यु को देखते हैं। यहाँ लेखक ने दो बच्चों के माध्यम से एक अलग दृष्टि दी है। गिन्नी की मृत्यु, काया के लिए एक रहस्य है। लामा उसे बताती भी है कि वह 'छुटकारा' था गिन्नी के लिए, पर काया समझ नहीं पाती। काया 'मरना' और 'मृत्यु' में भेद करती है और छोटे से पूछती है कि क्या उसने किसी को मरते देखा है? तब छोटे सोचने लगता है कि ''कितनी बार देखा है – झाड़ियों में पथराई चिड़ियों को, कुत्तों के कंकाल, मिट्टी पर सिकुड़ी चींटियों को, बारिश के दिनों में बहती नालियों में मुरदा छछूँदरों, केंचुओं को – लेकिन वह मृत्यु थी, मरना नहीं। मृत्यु भी नहीं, उसके बाद की चीज, एक निर्जीव, बेडौल लोथ, जिसका जीने–मरने से कोई सम्बन्ध नहीं। नहीं, मरना नहीं, मरते हुए नहीं।''[12] यहाँ किसी मरे हुए को देखना, और किसी को मरते हुए देखना – इन दोनों में अन्तर किया गया है।

निर्मल वर्मा प्रायः मृत्यु का गहरा विश्लेषण करने के लिए प्रयासरत दिखाई देते हैं क्योंकि मृत्युबोध अनहोनी और अयथार्थ नहीं है और न किसी अन्य दुनिया की स्थिति है। वे अपनी डायरी में लिखते हैं– ''हम अपने को सिर्फ अपनी सम्भावनाओं की कसौटी पर नाप सकते हैं। जिसने अपनी सम्भावनाओं को आखिरी बूँद तक निचोड़ लिया हो, उसे मृत्यु के क्षण की कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिए।''[13] 'अन्तिम अरण्य' के मेहरा साहब बड़ी सहजता के साथ मृत्यु की प्रतीक्षा करते हैं और इस प्रतीक्षा में वे अकेले नहीं हैं। डॉ0 सिंह, कथावाचक, निरंजन बाबू, अन्नाजी, मुरलीधर – सभी भयाक्रान्त होकर मेहरा साहब की मृत्यु की प्रतीक्षा करते हैं। डॉ0 सिंह, कथावाचक को बताते हैं कि ''वह जानना चाहते हैं, उन्हें यहाँ और कितने दिन रहना है?..... क्या वह कहीं जा रहे हैं?..... यहाँ से कोई और कहाँ जा सकता है?''[14]

मेहरा साहब मृत्यु से भयभीत नहीं हैं। वे मुरलीधर से अत्यन्त सहजता से पूछते हैं कि क्या उनका वक्त आ गया है?इस प्रकार उपन्यास का मूल स्वर ही मृत्युबोध का साक्ष्य है। सुधीश पचौरी के शब्दों में, ''अरण्य नये श्रीमद्भागवत की तरह है जो मरने की कला के बारे में बताता है और सहने की कला सिखाता है।''[15] 'एक चिथड़ा सुख' उपन्यास में डैरी, बिहार के जंगलों में मृत्यु को निकट से देख चुका है, इसीलिए उसे मृत्यु का बोध है। बिट्टी को बताते हुए डैरी कहता है, ''तुमने कभी किसी को मरते हुए देखा है?..... मरना नहीं, किसी को मारकर मरते हुए देखना..... देखोगी, तो मालूम होगा।''[16] इस प्रकार वे मृत्यु की व्याख्या विभिन्न स्तरों और परिस्थितियों में अलग–अलग दृष्टिकोण से करते हैं। वे स्वयं कहते हैं – ''मृत्यु शाश्वत है, पर हर मृत्यु अलग है, विशिष्ट है।''[17]

जिजीविषा और मृत्युबोध एक साथ अनेक स्थलों पर अत्यन्त तीव्र अनुभूति के रूप में चित्रित हुए हैं। 'परिन्दे' कहानी की लतिका जी रही है, लेकिन लगातार एक मौत का अहसास उसके साथ होता है। प्रेमी गिरीश नेगी, जो मर चुका है, के घेरे से वह बाहर ही नहीं आ पाती। कहानी का ही एक पात्र डॉक्टर उससे कहता है – ''कभी–कभी मैं सोचता हूँ मिस लतिका, किसी चीज को न जानना यदि गलत है, तो जान–बूझकर न भूल पाना, हमेशा जोंक की तरह उससे चिपटे रहना – यह भी गलत है। बर्मा से आते हुए मेरी पत्नी की मृत्यु हुई थी, मुझे अपनी जिन्दगी बेकार–सी लगने लगी थी। आज इस बात को अरसा गुजर गया और जैसा आज देखती हैं, मैं जी रहा हूँ, उम्मीद है कि काफी अरसा और जीऊँगा। जिन्दगी काफी दिलचस्प लगती है, और यदि उम्र की मजबूरी न होती तो शायद मैं दूसरी शादी करने में भी न हिचकता।''[18]

'बीच बहस में' का मौत से जूझता हुआ पिता, और

बेमौत धीरे–धीरे मरता हुआ उसका बेटा – दोनों में अजीब साम्य है। दोनों अलग–अलग तरह की मौतों से जूझ रहे हैं किन्तु जिजीविषा भी बनी हुई है। पिता वास्तव में मौत के सामने है लेकिन बेटे की वह स्थिति नहीं है और वह उनसे बचना भी चाहता है– ''उसे लगा, वह जीत रहा है। वह जी रहा है, इसलिए जीत रहा है। यह अनुभव भयंकर रूप से विस्मयकारी था। एक खास सीढ़ी पर पहुँचकर महज जीना ही जीतना हो जाता है.....बिना बदला चुकाए, बिना अपनी तरफ से हाथ–पैर मारे..... एक घिनौने किस्म की जीत..... लेकिन खालिस, ठोस जीत, जिसे तुम छोड़ना भी चाहो, वह तुम्हें नहीं छोड़ती।''[19] यह जिन्दगी की तरफ भागने की कोशिश है, जहाँ आदमी मरते हुए को उसकी मौत पर छोड़कर या धकेलकर भी उसी ओर भागना चाहता है। 'मरते के साथ कोई मरता नहीं', यहाँ तक कि किसी को मारकर भी कोई मरते हुए को देखने के लिए रुकता नहीं। यह जिजीविषा है जो तीव्र रूप से व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित करती है और उसके साथ ही जुड़ा मृत्यु का भय भी चला जाता है।

कहना न होगा, निर्मल वर्मा का कथासाहित्य मृत्यु और जीवन के तनावपूर्ण एवं आत्मीय रिश्तों का विविधतापूर्ण चित्रण करता है। यहाँ हर जगह मृत्यु अपने शाश्वत जीवन और अनिवार्य यथार्थ का रहस्य लिए हुए, हमारी आत्मा के दरवाजे पर दस्तक देती रहती है। उनकी जीवन–मृत्यु सम्बन्धी धारणा की स्थापना उनके ही शब्दों में करना उचित होगा – ''मैं मृत्यु से प्रभावित क्यों होऊँ?लेकिन मैं मृत्यु को स्वीकार कर पाना चाहूँगा। मृत्यु आखिर जीवन का अभिन्न अंग है। ऐसा भी समय था जब निर्मल वर्मा इस संसार में नहीं था। ऐसा समय फिर आयेगा। इसलिए मैं मृत्यु की परवाह नहीं करता।''[20]

सन्दर्भ–

1– निर्मल वर्मा, वे दिन, पृ0 188
2– निर्मल वर्मा, पिछली गर्मियों में, पृ0 41
3– वही, पृ0 48
4– वही, पृ0 48
5– निर्मल वर्मा, अन्तिम अरण्य, पृ0 17
6– निर्मल वर्मा, परिन्दे, पृ0 22
7– वन्दना केंगरानी, निर्मल वर्मा के स्त्री विमर्श, पृ0 219
8– निर्मल वर्मा, जलती झाड़ी, पृ0 135
9– अशोक वाजपेयी (सं0), निर्मल वर्मा, लेख – विकल तीर्थयात्री के साथ, लेखक – जयशंकर, पृ0 139
10– निर्मल वर्मा, एक चिथड़ा सुख, पृ0 186
11– वही, पृ0 185
12– निर्मल वर्मा, लालटीन की छत, पृ0 65
13– निर्मल वर्मा, धुन्ध से उठती धुन, पृ0 27
14– निर्मल वर्मा, अन्तिम अरण्य, पृ0 78
15– प्रस्थान, प्रवेशांक, जनवरी–जून 2006, सं0 दीपक प्रकाश त्यागी, लेख – निर्मल की निर्मितियाँ, लेखक – सुधीश पचौरी, पृ0 26
16– निर्मल वर्मा, एक चिथड़ा सुख, पृ0 172
17– गगन गिल (सं0), संसार में निर्मल वर्मा, पृ0 207
18– निर्मल वर्मा, परिन्दे, पृ0 139
19– निर्मल वर्मा, बीच बहस में, पृ0 123
20– गगन गिल (सं0), संसार में निर्मल वर्मा, पृ0 29

●●●●

*शोध छात्र– हिन्दी विभाग
गां0श0स्मा0स्ना0 महाविद्यालय, कोयलसा, आजमगढ़
सम्बद्ध वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल वि0वि0 जौनपुर

"गुप्त अभिलेखों में वर्णित वैष्णव धर्म"

सुरेन्द्र कुमार*
कृष्ण ओम सिंह**

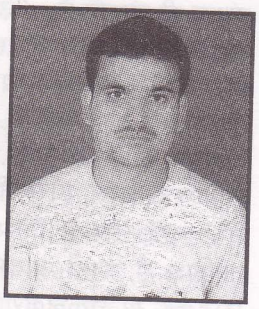

प्रारम्भ से ही भारत एक आध्यात्मिक देश रहा है। यहाँ आध्यात्मिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियाँ सदैव सक्रिय रही हैं। भारत का प्राचीनतम धर्म वैदिक धर्म था। इसमें कर्मकांड की प्रधानता थी। यज्ञ और यज्ञ से संबंधित कार्यों पर विशेष ध्यान दिया जाता था।दैनिक कार्यों में पंचयज्ञ का विधान था। उपनिषद् काल में कर्मकांड का स्थान ज्ञानकांड ने ले लिया। मानव का ध्यान दार्शनिक उलझनों को सुलझाने की ओर आकृष्ट किया गया। दार्शनिक विचारों में ज्ञान का स्थान दिया गया। ईश्वर और मानव के पारस्परिक संबंध तथा जीवन के रहस्य पर विचार करना ही उनका प्रमुख विषय बन गया। नित्य प्रति के यज्ञादि कर्मकांडों से जनता को अरूचि हो गई। कालांतर में दार्शनिक समस्याओं को सुलझाना मनुष्यों के लिए रहस्य हो गया। समाज नए विचारों को लेकर चलना चाहता था। जिससे उसके प्रश्नों का निराकरण हो सके। इसी कारण नये मतों का उदय हुआ जिसे बौद्ध एवं जैन धर्म कहते हैं।

भारतीय धर्म और दर्शन के इतिहास में गुप्तकाल एक महत्वपूर्ण काल था। क्योंकि इस काल में एक ओर देश विशेषतः उत्तर भारत का राजनीतिक एकीकरण हुआ तो दूसरी ओर, साहित्य, अर्थव्यवस्था, धर्म तथा कला का अभूतपूर्व विकास हुआ। इस काल में वैदिक धर्म पर आधारित पौराणिक मत का प्रचार–प्रसार हुआ। शासकों में धार्मिक विचार तथा सहिष्णुता की भावना भरी थी।

वैष्णवमत– गुप्त सम्राटों ने विकसित वैदिक धर्म की वैष्णव शाखा को राजधर्म के रूप में स्वीकार किया था। गुप्तकाल में वैष्णव धर्म अथवा भागवत धर्म लोकप्रियता की चरम सीमा पर पहुँच गया था। तत्कालीन युग में विष्णु अथवा नर–नारायण का पूजन और मूर्ति निर्माण बहुत अधिक प्रचलित था। धर्म परायण हिंदू समाज और हिन्दू धर्म के सुधार में गुप्त सम्राटों ने जो योगदान दिया उसके लिए उनका सदैव स्मरण किया जाएगा। वे स्पष्ट रूप से वैष्णव थे। गुप्तकालीन अभिलेखों के अध्ययन से पता चलता है कि गुप्तकाल में वैष्णव धर्म का प्रचुर प्रसार था। गुप्त शासक वैष्णव धर्मावलम्बी थे। अतः उनका राजकीय धर्म वैष्णव धर्म था। गुप्त सम्राटों ने अपने सिक्कों और लेखों में परम भागवत की उपाधि धारण की है।[1] उनके सिक्कों पर विष्णु की भार्या लक्ष्मी तथा वाहन गरूड़ की आकृतियाँ भी मिलती है। गरूड़ मुद्रा का उदाहरण गाजीपुर जिले (उत्तरप्रदेश) के भीतरी नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त मुद्राओं के ऊपर वैष्णव धर्म के अन्य प्रतीक शंख, चक्र, गदा, पद्म तथा लक्ष्मी की आकृति उत्कीर्ण प्राप्त होती है। इससे सिद्ध होता है कि गुप्त सम्राट कट्टर वैष्णव थे। गुप्तवंशीय सभी महान सम्राट चंद्रगुप्त प्रथम से लेकर भानुगुप्त तक इन सम्राटों में एक भी ऐसा न हुआ जिसका किसी अन्य धर्म के प्रति झुकाव रहा हो। इस बंश के अभिलेखों से हिन्दू धर्म अथवा कट्टर सनातन धर्म के पुनर्जागरण का स्पष्ट रूप से संकेत मिलता है।[2] उनकी मुद्राओं और तत्कालीन अभिलेखों में वैष्णव होने के कई प्रमाण मिलते हैं। विश्ववर्मन के गंगधर प्रस्तर लेख में विष्णु को मधुसूदन के नाम से संबोधित किया गया है।[3] समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति से संप्रदाय विशेष के प्रति झुकाव का पता नहीं चलता केवल इतना जान पड़ता है कि हरिषेण हिंदू धर्मावलम्बी था। एरण से प्राप्त स्तंभ लेख क्षतिग्रस्त अवस्था में है। इसे किसी धर्म से जोड़ना कठिन है लेकिन लेखों से परिणाम निकलता है कि इसे हिन्दू धर्म से संबंधित मानना उचित होगा। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने अपनी विजय कीर्ति को चिरस्थायी बनाने के लिए विष्णुपद नामक पर्वत पर विष्णुध्वज स्थापित किया था–

"तेनाय प्रणिधाय भूमिपतिना भावेन विष्णोर्मति।
प्रान्शुर्विष्णु पदे गिरौ भगवतो विष्णुध्वजः स्थापितः।।"[4]

इन नरेशों ने न केवल स्वयं वैष्णव धर्म का पालन किया बल्कि इसके प्रचार के लिए विष्णु के अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया। गुप्त शिलालेखों से इस बात का भी पता चलता है कि इस काल में पूजनीय देवता विष्णु थे। उत्तरप्रदेश के गाजीपुर जिला के अंतर्गत भितरी में स्कन्दगुप्त का एक अभिलेख वासुदेव कृष्ण (शार्ङ्गिन) की मूर्ति का उल्लेख करता है जिसके पूजन के लिए ग्राम का दान किया गया था।[5]

स्कंदगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख का प्रारम्भ विष्णु की प्रार्थना से होता है।

"श्रियमभिमत भोग्यां नैक कालापतीनां
त्रिदशपतिसुखार्थयोवलेराजहार
कमल निलय नायाः शाश्वतंधाम लक्ष्म्यां
स जयतिविजितार्तिविष्णुत्यंत जिष्णुः"[6]

इसी लेख में सौराष्ट्र के राज्यपाल पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित द्वारा विष्णु मंदिर के निर्माण का वर्णन है–

"कारितमक्रमतिना चक्रभृतः चक्रपालिते गृहम्।"[7]

कुमारगुप्त प्रथम के गढ़वा (इलाहाबाद, उत्तरप्रदेश) अभिलेख में विष्णु को 'भगवत्' कहा गया है।[8] गुप्तराजाओं के सिक्कों पर ध्वज तथा दानपत्रों की मुहरों के ऊपर विष्णु वाहन गरूड़ आसीन मिलता है। महाराज बुधगुप्त के गुप्त संवत् 165 (484 ई. सन्) का एरण स्तम्भ लेख (जिला सागर में है) विष्णु की स्तुति से प्रारम्भ होता है। उसके सामन्त मातृविष्णु द्वारा भगवान विष्णु (जनार्दन) के ध्वज स्तम्भ का निर्माण किया गया था, उसका उल्लेख है–

"महाराज मातृविष्णु तस्यैवानुजेन तदनु विधायिना तत्प्रसाद

परिगृहीतेन
धन्यविष्णुना मातृपित्रोः पुण्याप्यनार्थमेष भगवतः पुण्य
जर्नादनस्य ध्वजस्तंभो अभ्युच्छितः।''[9]

आदित्यसेन के अफसद लेख में 'वसुदेव–पुत्र माधव' के चरणों की लक्ष्मी द्वारा सेवा करने की बात उल्लिखित है।[10] बुधगुप्त के दामोदरपुर ताम्रपत्र में वर्णन है कि कौशिकी और कोका नदियों के संगम (नेपाल) पर वराह क्षेत्र में हिमालय के शिखर पर वराहस्वामी और कोकामुख स्वामी के मंदिर का निर्माण हुआ था।[11] प्रायः उसी युग में वराह क्षेत्र में दामोदरपुर (बांग्लादेश) के निकट इन्हीं दो देवताओं के मंदिर का निर्माण हुआ था।

गुप्तकालीन अभिलेखों के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि भगवान विष्णु के अवतारों की कल्पना पूर्ण हो गई थी और कुछ अवतार पूजित होने लगे थे। कलात्मक नमूने चतुर्भुजी विष्णु के नहीं मिलते परन्तु लेखों के वर्णन तथा कला के दृष्टांत यह सिद्ध करते हैं कि जनता में वैष्णव मत की प्रधानता थी। उसने राजधर्म का स्थान प्राप्त कर लिया था। भरतपुर के 'कमन' नामक स्थान से मत्स्य, कूर्म, वाराह, कृष्ण, नृसिंह तथा वामन आदि विष्णु के भिन्न–भिन्न अवतारों की मूर्तियां प्राप्त हुई हैं।[12] एरण, उदयगिरि आदि स्थानों से विष्णु की विशाल प्रतिमाएँ तथा अनेक शिलाफलक मिले हैं। कलाकृतियों में विभिन्न अवतारों की मूर्त्तियाँ दृष्टिगत होती हैं लेकिन इस काल में विष्णु के वराह अवतार का विशेष प्रचलन था। गुप्तकाल में भगवान वराह की प्रतिमा दो प्रकार की मिली है– (1) मूर्ति में सिर का भाग वराह का तथा शेष मानव का, (2) पशु वराह के रूप में प्रतिमा। गुप्तयुग से संबंधित विष्णु के वाराह अवतार की प्राचीनतम मूर्ति चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय की उदयगिरि वराह गुफा की है।[13] जिसमें पृथ्वी की रक्षा करते हुए वाराह रूपी भगवान को चित्रित किया गया है। जिसके दाँत से अतिलघुकाय नारी मूर्ति (पृथ्वी) लटकी हुई है। ऐसे वाराह रूपधारी भगवान वाराह का उल्लेख महाकवि कालिदास ने भी किया है।[14] उनके साहित्य में मोरपंखधारी कृष्ण[15] का भी उल्लेख है तथा उनके भाई बलराम[16] (हलधर) और उनकी पत्नी रूक्मिणी[17] का भी उल्लेख है। एरण (जिला–सागर) से वाराह रूप की एक विष्णु प्रतिमा प्राप्त हुई है। यह विशाल प्रतिमा मनुष्य के आकार से भी बड़ी और ठोस पाषाण की प्रतिमा है। ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान ने वाराह के रूप में साक्षात् अवतार लिया हो। सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग के मुख्य द्वार पर भी यह प्रतिमा रखी गयी है। इस मूर्ति के साथ एक लेख उत्कीर्ण है जिसमें भगवान वाराह की स्तुति की गई है–

''जयतिघरण्युद्धरणे घनघोरा घातघूर्णितः महींद्रः।
देवो वराह मूर्तिः त्रैलोक्य महागृह स्तंभः।।''[18]

एक लेख से जानकारी प्राप्त होती है कि महाराज तोरमाण के अधीनस्थ राजा धन्यविष्णु ने अपने माता–पिता की पुण्य प्राप्ति के लिए इस मूर्ति का निर्माण कराया था।

''धन्यविष्णुना तेनैव– भगवतो वराह मूर्तेः जंगत्परायणस्य
नारायणस्य शिला प्रासादः।''[19]

सनकानिक द्वारा निर्मित उदयगिरी गुफा से लक्ष्मी सहित विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति तथा शेषशायी भगवान की विशाल मूर्ति मिली है।[20] इसी प्रकार की विष्णु मूर्ति भूमरा और छठी सदी के बादामी के शिल्प में भी देखने को मिलती है।[21] सारनाथ संग्रहालय में गोवर्धनधारी कृष्ण की प्रतिमा है। जिसे गुप्तकालीन माना जाता है। इन लेखों तथा मूर्तियों के अतिरिक्त कुछ राज मुद्राएँ भीठा, नालन्दा तथा वैशाली से प्राप्त हुई हैं जिन पर शंख, चक्र, त्रिशूल जैसे वैष्णव एवं शैव चिह्न अधिक संख्या में मिले हैं। कुछ राजमुद्राओं के ऊपरी भाग में विष्णु के चिह्न शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि अंकित मिले हैं तथा ''पवी विष्णुपद स्वामी नारायण'' लिखा मिलता है।[22] विष्णु की पूजा तथा वैष्णव धर्म की लोकप्रियता का कारण पौराणिक साहित्य था जिसमें विष्णु को उच्चतम देवता मान लिया गया। अभिलेखों से यह प्रदर्शित होता है कि दशावतारों में वराह सबसे प्रिय अवतार था। इसके स्वरूप वराह की विशालकाय प्रतिमा उदयगिरि गुहा और एरण में दिखलाया गया है। गुप्त काल में ही विष्णु उपासना की परिधि में उनकी पत्नी लक्ष्मी का समावेश हुआ। तत्कालीन अभिलेखों में विष्णु के साथ लक्ष्मी का उल्लेख स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ लेख में हुआ है।[23] उसके बाद मिहिरकुल के ग्वालियर ताम्रपत्र में उनका उल्लेख है।[24] इस युग में कृष्ण को पहाड़पुर में मूर्तियों द्वारा प्रदर्शित किया गया है। गुप्त शासकों ने स्वर्ण तथा रजत मुद्राओं पर अपनी वैष्णव पदवी का उल्लेख किया है। चंद्रगुप्त द्वितीय के अश्वारोही प्रकार के सिक्के एवं कुमारगुप्त प्रथम के रजत सिक्कों पर भी वैष्णव उपाधि 'परम भागवत' उत्कीर्ण है। राज्याश्रय पाकर वैष्णव धर्म का विकास होता गया। मध्ययुग में बौद्धमत भी इसी में सम्मिलित हो गया जो वैष्णव सहजिया के नाम से विख्यात रहा है। निष्कर्षतः अभिलेखों के आधार पर अन्य धर्मों के प्रति धार्मिक सहिष्णु होने के पश्चात् भी गुप्त शासक वैष्णव धर्मावलम्बी थे।

सन्दर्भ–

1. उपाध्याय, वासुदेव, गुप्त अभिलेख, पृ.132
2. वंधोपाध्याय, राखालदास, गुप्त साम्राज्य, पृ. 80
3. फ्लीट, जे.एफ., भारतीय अभिलेख सग्रंह, भाग–3, 1974 संस्करण, पृ. 94, पंक्ति–21
4. वही, पृ. 172, पंक्ति–6 मेहरौली स्तम्भ लेख
5. वही, पृ. 68, पंक्ति–17–18, भीतरी स्तम्भ लेख
6. वही, पृ. 74, पंक्ति–1–2,जूनागढ़ स्तम्भ लेख
7. वही, पृ. 76, पंक्ति–27, जूनागढ़ स्तम्भ लेख
8. वही, पृ. 50, पंक्ति–1, गढ़वा स्तम्भ लेख
9. फ्लीट, जे.एफ., भारतीय अभिलेख सग्रंह, भाग–3, 1974 पृ. 110, पंक्ति–7–9
10. वही, पृ. 250, पंक्ति–11–12, अफसद अभिलेख
11. उपाध्याय, वासुदेव, गुप्त अभिलेख, पृ.174, पंक्ति– 7–9, दामोदरपुर ताम्रपत्र (बुधगुप्त)
12. बनर्जी, गुप्त लेक्चर्स, पृ. 123
13. हैवेल, हैण्ड़ बुक ऑफ इण्डियन आर्ट, पृ.167
14. कुमार संभव, पृ. 6/8, 'भुवा महावराहदंष्ट्रायां विश्रान्ताः।

15. मेघदूत, पृ. 15, वर्हेणेव
16. मेघदूत, पृ.49
17. मालविकाग्निमित्र, पृ. 5/2, 'विष्णोः च रूक्मिणीम्'
18. फ्लीट, जे.एफ., भारतीय अभिलेख संग्रह, 1974 भाग–3, पृ. 194, पंक्ति–1
19. वही, पृ. 195, पंक्ति 6–7वीं
20. कनिंघम, आर्केलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग – 10, पृ. 52; बनर्जी, गुप्त लेक्चर्स, पृ. 127
21. मेमायर्स ऑफ द आर्केलौजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, पृ, 25
22. ऑर्केलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, 1903–4. पृ. 110, नं. 31
23. फ्लीट, जे.एफ., भारतीय अभिलेख सग्रंह, भाग–3, 1974, संस्करण, पृ. 73 पंक्ति–1, जूनागढ़ लेख
24. वही, पृ. 199, पंक्ति–8, ग्वालियर ताम्रपत्र

●●●●

*शोध छात्र
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्व विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,

'परमिता' के सदस्य बनें

कृपया निम्नलिखित फार्म में मांगे गये विवरण भरकर इस पूरे पृष्ठ को काट लें और तत्पश्चात् इस फार्म को 'परमिता' के पक्ष में देय उपयुक्त एकाउंट पेई चेक/ड्राफ्ट/मनीआर्डर के साथ निम्नलिखित पते पर भिजवाने का कष्ट करें–

'परमिता' त्रैमासिक शोध-पत्रिका
N-1/61 R-1, शशिनगर कालोनी, सामनेघाट रोड, नगवाँ, लंका, वाराणसी (उ0प्र0) 221005
दूरभाष– 09838077923 • ईमेल : parmita.com@gmail.com

सदस्यता विवरण

• मैं निम्न प्रकार की सदस्यता ग्रहण करना चाहता हूँ:

निशान लगायें	सदस्यता का प्रकार	देय राशि
☐	संरक्षक सदस्य	10,000रु.
☐	आजीवन सदस्य (व्यक्तिगत)	1000रु.
☐	आजीवन सदस्य (संस्थागत)	2000रु.

• कृपया वाराणसी से बाहर के चेकों के लिए 30रु0 अतिरिक्त जोड़ें।

अन्य विवरण कृपया नीचे दिये गये फार्म में भरें

चेक/ड्राफ्ट का विवरण इस प्रकार है :
चेक/ड्राफ्ट नं0.....राशि.....
तिथि .....बैंक .....
अन्य विवरण इस प्रकार है :
नाम :.....
व्यवसाय (आजीविका का साधन) :.....
पत्रिका मंगवाने का पता (पिनकोड सहित) :.....
.....
.....दूरभाष : .....
ईमेल (अंग्रेजी के कैपिटल लैटर में) :.....

शोध-15

महाभारत कालीन प्रमुख व्यापारिक उत्पाद व उनके क्रय-विक्रय के संकेत

अनिल कुमार*

महाभारत काल में कृषि कर्म तथा उद्योग धंधे से उत्पादित वस्तुओं का क्रय–विक्रय होता था। कृषक, पशुपालक, लोहार, बढ़ई, स्वर्णकार, जुलाहे तथा चर्मकार आदि व्यवसायियों द्वारा उत्पादित वस्तुएं व्यापार के माध्यम से समाज के विभिन्न लोगों को प्राप्त होते थे। ग्रामीण व्यापार में गायें[1] तथा घोड़े प्रमुख थे। एक स्थल पर कहा गया है कि मैंने घोड़ों का मूल्य देकर अपना सारा शुल्क चुका दिया हैं।[2] शांति पर्व से पता चलता है कि मांस, मदिरा, शहद, नमक, तिल की बनायी हुई वस्तुएं, घोड़ा तथा बैल, गाय, बकरा, भेड़ और भैंस आदि पशुओं का क्रय–विक्रय होता था।[3] एक स्थल पर कथन है कि वैश्य पुत्र तुम तो सब प्रकार के रस, गंध, वनस्पति, औषधि, मूल और फल आदि बेचा करते हो।[4] शांति पर्व के 62 वें अध्याय में तेल, घी, शहद और औषधियों की बिक्री की चर्चा की गई है।[5] दूध, दही, शहद, घी, सोमरस, सुरा[6], मधु[7], आटे ईख, केशर, साग, सत्तू, भुजे हुए जौ आदि खाद्य पदार्थों का उल्लेख मिलता हैं। अर्थशास्त्र से विदित होता है कि रस, पकवान, सुरा, मांस, औषधि आदि के विक्रय के लिए दुकानों की व्यवस्था की गई थी। फल–फूल, कंद, सूखी मछली, मांस आदि भोज्य पदार्थ भी आंतरिक व्यापारिक उत्पाद थे।[8] शांति पर्व में आपत्ति काल में भी ब्राह्मणों को मांस, मदिरा, शहद, नमक, तिल, घोड़ा, बैल, गाय, बकरा, भेड़ आदि वस्तुओं का विक्रय निषिद्ध माना गया है।[9] इससे स्पष्ट होता है कि उपरोक्त वस्तुओं का व्यापार अन्य वर्ग के लोग करते थे।

जैन ग्रंथ में चार प्रकार की वस्तुओं का उल्लेख है–प्रथम गणिमा (गिनी जाने वाली वस्तुएं), द्वितीय धरिमा (तौली जाने वाली वस्तुएं), तृतीय मेघ (नापी जाने वाली वस्तुएं) तथा चतुर्थ परिच्छेप[10] (टुकड़ों में विभाजित होने वाली वस्तुएं) उतरापथ से सोना तथा हाथी दाँत विक्रय के लिए दक्षिणापथ भेजा जाता था। गौड़ देश में रेशमी वस्त्र अधिकता से तैयार होता था। नेपाल का कम्बल उच्च कोटि का माना जाता था।

महाभारत में वस्त्रों के अन्तर्गत 'वल्कल' वस्त्र ऊनी, सूती वस्त्र, कम्बल, हाथी पर बिछाने वाले वस्त्र, रेशमी वस्त्र तथा कौशेय अंकुश (महीन कपड़े), सूती वस्त्र, भेड़ के बाल के वस्त्र, सिंह के चर्म का उत्तरीय (चादर), व्याघ्र चर्म के वस्त्र आदि का उल्लेख किया गया है।[11] आभूषण के अन्तर्गत कुण्डल, हार, मणि रत्न निर्मित आभूषण, अंगूठी, हार, अंगद, बाजूबंद आदि[12] व सुगंधित द्रव्य के रुप में केसर व चंदन[13] का उल्लेख प्राप्त होता है।

अन्य वस्तुओं में जूता, हिरन के चमड़े, चमड़े के थैले, गोह के चमड़े के बने हुए हाथ के दस्ताने, चाबुक, चमड़े का सम्पुट[14], बर्तनों में तांबे के बर्तन, कांसे के पात्र, घड़े, कड़ाहे, कलश, कटोरे, सोने के बर्तन के अनेक पात्र, सोने, चांदी, तांबे और मिट्टी के अनेक कलश, सोने व चांदी के कलश किये हुए बर्तन[15] व कतिपय अन्य वस्तुएं तथा रथ, डण्डे, काठ और बेंत की छड़ियाँ, छत्र, कुल्हाडी, लगाम, नौका, बांस, लकड़ी, सींग, हड्डी मज्जा, तेल, औषध, रस्स, पलंग व टोकरी[16] इत्यादि का उल्लेख महाभारत में यत्र–तत्र मिलता है। साथ ही महाभारत के विभिन्न पर्वों से लौह उद्योग के अन्तर्गत अनेक प्रकार के शस्त्र निर्माण पर प्रकाश पड़ता है।[17] कर्ण, शांति, वन व विराट पर्व ऐसे उल्लेख से भरे हुए है।

व्यापारिक मार्ग– महाभारत से व्यापार की उन्नत अवस्था का दिग्दर्शन होता है। व्यापार स्थलीय तथा जलीय दोनों मार्गों द्वारा होता था। देश के प्रमुख व्यापारिक नगर तथा उपनगर विभिन्न सड़कों तथा जलमार्गों द्वारा एक–दूसर से संलग्न थे। इन मार्गों पर व्यापारी अपनी व्यापारिक वस्तुओं के साथ यात्रा करते थे। स्थल मार्गों के अतिरिक्त व्यापार के लिए नदियों का भी उपयोग किया जाता था। नदियों से यातायात के लिए छोटी नौकाओं का प्रयोग होता था।

स्थल मार्ग– महाभारत में गली या सड़क, चौराहों आदि का वर्णन मिलता है।[18] विभिन्न स्थानों में जाने के लिए विशाल सड़के बनी हुई थी। हस्तिनापुर व इन्द्रप्रस्थ में सड़कों का उल्लेख मिलता है।[19] सड़कों पर लोग घूमते–फिरते थे।[20] मार्गों की स्वच्छता का ध्यान रखा जाता था।[21] एक ऐसे मार्ग का वर्णन मिलता है जिस मार्ग के बीच में न कुआँ न पोखरा, न बावड़ी और न वृक्ष छाया था। इससे पता चलता है कि सामान्यतः प्रमुख मार्गों पर जल, छाया व विश्राम स्थलों की व्यवस्था रहती थी।[22]

सभा पर्व में राजगृह–मिथिला मार्ग[23] का उल्लेख मिलता है जो मार्ग राजगृह से मिथिला जाता था। दूसरा मार्ग राजगृह से तक्षशिला तथा पुष्पकलावती तक जाता था जो पश्चिमोत्तर भारत के प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे।[24] महाभारत काल में व्यापारिक कारवां में घोड़े, ऊँट तथा रथ होते थे।[25] वन पर्व में उल्लेख है कि गंधर्व राजा दुर्योधन को बंदी बनाकर जब ले जाने लगे तो उनके साथ छकड़े, रसद की दुकान, वेश–भूषा, सवारी ढोने तथा कंधों पर जुआ रखकर चलने में समर्थ बैल आदि सभी उपकरणों का भण्डार था।[26] इस उद्धरण से यह ध्वनित होता है कि व्यापारियों के कारवां आवश्यक सामग्रियों से सम्पन्न होकर

एक स्थान से दूसरे स्थान को व्यापारिक यात्राएं करते थे। पाणिनी ने भी एक नगर से दूसरे नगर के सम्बंध जोड़ने वाले मार्गों का वर्णन किया है। कात्यायन ने विभिन्न प्रकार के मार्गों का उल्लेख किया है जैसे कांतार पथ, वारि पथ, जंगल पथ, स्थल पथ। कान्तार पथ से आशय वासुदेव शरण अग्रवाल विंध्य के रास्ते कौशाम्बी से भृगुकच्छ को जोड़ने वाला मार्ग मानते हैं।[27]

बौद्ध ग्रंथों में भी व्यापारिक मार्गों का भरपूर उल्लेख मिलता है। पूर्वी भारत में स्थित राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती, वाराणसी तथा चम्पा आदि नगर प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे और मार्गों द्वारा एक–दूसरे से जुड़े हुए थे।[28] इन नगरों का व्यापार स्थल मार्ग से गांधार, कम्बोज, सिंध ऐसे दूरस्थ स्थानों से भी होता था। दीर्घनिकाय में एक मार्ग का उल्लेख है जो राजगृह से आरम्भ होकर नालन्दा, पटिलग्राम, वैशाली, पावा होते हुए कुशीनगर को जाता था।[29] एक अन्य मार्ग राजगृह–चम्पा मार्ग राजगृह से चम्पा जाता था। बाद में मिथिला से भी सम्बंध हो गया क्योंकि जातकों में इन नगरों को जोड़ने वाले मार्ग पर बैलगाड़ियों के चलने का उल्लेख हैं।[30] महावग्ग जातक में राजगृह से कलिंग तक विस्तृत मार्ग का उल्लेख है।[31]

जल मार्ग– आंतरिक व वाह्य व्यापार जल–मार्ग द्वारा भी होता था। जल–मार्ग स्थल मार्ग की अपेक्षा अधिक उत्तम माना जाता था क्योंकि उसमें श्रम कम साथ ही साथ व्यय कम करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त उनसे प्रभूत पण्य की प्राप्ति भी होती थी। गंगा, यमुना, सरस्वती, रथस्था, सरयू, गोमती आदि नदियाँ यातायात के लिए प्रयुक्त होती होगी।

नदी के तट पर स्थित होने के कारण चम्पा, पाटलिपुत्र, वाराणसी तथा कौशाम्बी का आपस में व्यापार जल मार्ग से होता था।[32] कौटिल्य ने तीन प्रकार के प्रमुख जल मार्गों का उल्लेख किया है–(1) कुलपथ (समुद्रतट का जलमार्ग), (2) संयान पथ (महासमुद्र का मार्ग), (3) नदी पथ। कौटिल्य के अनुसार कुल पथ और संयान पथ में कुल पथ अधिक उत्कृष्ट होता है तथा उस पर अनेक बंदरगाह भी पड़ते हैं। नदी पथ श्रेष्ठ होता है क्योंकि उसका सदा प्रयोग किया जा सकता है तथा उसमें प्रायः बाधाएं तथा संकट भी उपस्थित नहीं होते।[33]

महाभारत से अनेक नदियों तथा चन्द्रभागा, महानदी, विपाशा, स्थूलवालुका, वेत्रवति, इरावती, विविस्ता, देविका, त्रिविदा, इक्षुला, चित्रवाहा, अहिता, पुवित्रता, कुण्डली, सिन्धु, भीमा, हिरण्यती, विश्वमित्रा, भारद्वाज नदी, कौशिका नदी, तमसा नदी आदि का उल्लेख मिलता है जो निश्चय ही आवागमन का साधन रहीं होगी।[34]

विभिन्न नदियों का उल्लेख के साथ महाभारत में समुद्री पोत[35] तथा सामुद्रिक यात्रा में उत्पन्न बाधाओं का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है। द्रोण पर्व में एक स्थल पर नौका क्षतिग्रस्त हो जाने के फलस्वरुप नौका उपलब्ध न होने के कारण उन व्यापारियों की दुविधा का उल्लेख है जो समुद्र पार यात्रा करना चाहते थे।[36] एक अन्य स्थल पर रत्नों से लदी नाव के समुद्र के बीच जाकर किसी मगरमच्छ की पीठ से टकराकर टूटने का उल्लेख मिलता है।[37] द्रोण पर्व में एक महासागर में चारों तरफ से वायु के थपेड़े खाकर टूटी हुई नौका के बड़ी विपत्ति में फंसने का उल्लेख मिलता है।[38]

महाभारत से विभिन्न सामुद्रिक अभियानों का पता चलता है कि अर्जुन दक्षिण एवं पश्चिम के कई सामुद्रिक तीर्थों को गये थे।[39] सभा पर्व में दिग्विजय प्रसंग में कहा गया है कि अर्जुन ने शाकाल आदि सप्तद्वीपों के अधिपतियों को युद्ध में परास्त किया था।[40] इसी प्रकार पश्चिम भारत विजय के बाद नकुल द्वारा पश्चिमी समुद्र की खाड़ी में रहने वाले दुर्दमनीय मलेच्छ राजाओं को पराजित करने का उल्लेख है।[41] एक अन्य स्थल पर पाण्डवों की सम्पत्ति से ईष्यान्वित दुर्योधन की उक्ति से पता चलता है कि पाण्डवों ने सामुद्रिक राजाओं को युद्ध में पराजित करके विशाल सम्पत्ति प्राप्त की थी।[42] राजसूय यज्ञ में युधिष्ठिर को सिंहल आदि द्वीपों से नाना प्रकार के उपहार प्राप्त हुए थे।[43]

उपरोक्त संदर्भों से यह सुस्पष्ट होता है कि महाभारत काल में विभिन्न आंतरिक व वाह्य व्यापारिक तथा राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सामुद्रिक यात्राएं सम्पन्न की जाती थी और लोग सामुद्रिक यात्रा व उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं से भली–भाँति परिचित थे। बौद्ध साहित्य से विदित होता है कि भारतीय व्यापारियों की यात्राएं ताम्रवर्णी और सुवर्णभूमि के साथ–साथ भृगुकच्छ से होती हुई सुमेर और बेबीलोन तक होती थी।[44] जल पोतों का निर्माण लकड़ी के तख्तों से किया जाता था जिन्हें 'पदरानि' कहते थे। जहाजों में रस्से (पोत्ताणि), मस्तूल (कुपक), लंगर (लकार) और लम्बी–लम्बी पतवारें होती थी। महासमुद्र में पोत का संचालन करने वाले चालक अत्यन्त कुशल होते थे। नदियों और खाड़ियों के ऊपर सेतु का निर्माण किया जाता था, जिससे सामान आसानी से पार किया जा सकता था।[45] समुद्र और नदी मार्गों की देख–रेख के लिए नावाध्यक्ष नियुक्त था। वह जल मार्ग का उपयोग करने वाले से कर ग्रहण करता था तथा उन्हें यातायात की सुविधा प्रदान करता था।[46]

स्थल व्यापार की अपेक्षा कौटिल्य ने समुद्री व्यापार को विशेष सुविधाएं देने का निर्देश दिया है। नदियों में नावों का प्रबंध राज्य की ओर से रहता था। विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से लाभ कम होने की स्थिति में चुंगी कम करने की आज्ञा दी गयी है।[47] सूत्र ग्रंथों में भी समुद्री मार्ग से आयात–निर्यात का संकेत मिलता है। बौधायन धर्मसूत्र में समुद्र यात्रा और समुद्री मार्ग से आयातित वस्तुओं पर कर लगाने का निर्देश मिलता है।[48]

सन्दर्भ–

1. महाभारत, आदि पर्व, अध्याय 166, श्लोक संख्या 24, पृ0 4847।
2. वही, उद्योग पर्व, अध्याय 118, श्लोक संख्या 13, पृ0 2363।
3. वही, शांति पर्व, अध्याय 78, श्लोक संख्या 45, पृ0 4628।

4. वही, शांति पर्व, अध्याय 62, श्लोक संख्या 2, पृ0 5096।
5. वही, शांति पर्व, अध्याय 29, श्लोक संख्या 91।
6. वही, विराट पर्व, अध्याय 72, श्लोक संख्या 26।
7. वही, द्रोण पर्व, अध्याय 227, श्लोक संख्या 74।
8. अर्थशास्त्र, 2/4/22।
9. वही, शांति पर्व, अध्याय 28, श्लोक संख्या 4–5, पृ0 4625।
10. जे0 सी0 जैन, लाइफ इन एशियन्ट इण्डिया, पृ0 114–115।
11. महाभारत, आदि पर्व, अध्याय 36, श्लोक संख्या 6, पृ0 116; वही, अध्याय 127, श्लोक संख्या 31, पृ0 381; वही, श्लोक संख्या 24, पृ0 494; वही, श्लोक संख्या 16, पृ0 2455। वही, अनुशासन पर्व, श्लोक संख्या 104, पृ0 4848; वही, अध्याय 114, श्लोक संख्या 18–19, पृ0 5911।
12. वही, श्लोक संख्या 96, पृ0 55; वही, शांति पर्व, अध्याय 166, श्लोक संख्या 54, पृ0 48–49; आदि पर्व, अध्याय 73, श्लोक संख्या 2–3, पृ0 213; वही, अध्याय 132, श्लोक संख्या 9, पृ0 403; वही, श्लोक संख्या 18–19, पृ0 439; वही, द्रोण पर्व।
13. वही, आदि पर्व, श्लोक संख्या 10, पृ0 470।
14. वही, अश्व पर्व, अध्याय महेश्वर उवाच, पृ0 6011; वही, शांति पर्व, अध्याय 78, श्लोक संख्या 22–23, पृ0 4626; वही, अध्याय 97, श्लोक संख्या 23–24, पृ0 4673।
15. वही, आदि पर्व, सभा पर्व , श्लोक संख्या 19, पृ0 2169।
16. वही, आदि पर्व, अध्याय 112, श्लोक संख्या 8–9, पृ0 337; वही, श्लोक संख्या 10–11, पृ0 884; वही, श्लोक संख्या 3–7, पृ0 5899; वही, अश्वमेघिक पर्व, महेश्वर उवाच, पृ0 6011; वही, शांति पर्व, अध्याय 32, श्लोक संख्या 14, पृ0 4502; वही, अध्याय 56, श्लोक संख्या 4, पृ0 4656; वही, अध्याय 73, श्लोक संख्या 73, पृ0 4675; वही, अध्याय 8, श्लोक संख्या 93, पृ0 4648; वही, वन पर्व, अध्याय 17, श्लोक संख्या 1–4।
17. वही, आदि पर्व, अध्याय 31, श्लोक संख्या 47–48; वही, अध्याय 32, श्लोक संख्या 11–12, पृ0 109; वही, अध्याय 132,134, 138 आदि।
18. वही, आदि पर्व, अध्याय 139, श्लोक संख्या 64–65, पृ0 427।
19. वही, उद्योग पर्व, श्लोक संख्या 27, पृ0 1317; वही, आदि पर्व, अध्याय 206, श्लोक संख्या 34, पृ0 494।
20. वही, द्रोण पर्व, श्लोक संख्या 43, पृ0 3104।
21. वही, द्रोण पर्व, श्लोक संख्या 34।
22. वही, द्रोण पर्व, अध्याय श्री भगवान उवाच, पृ0 6322।
23. वही, सभा पर्व, अध्याय 20, श्लोक संख्या 28, पृ0 724।
24. वही, सभा पर्व, अध्याय 20, श्लोक संख्या 29, पृ0 724।
25. वही, वन पर्व, अध्याय 64।
26. वही, वन पर्व, अध्याय 242, श्लोक संख्या 10, पृ0 1641।
27. वासुदेव शरण अग्रवाल, पूर्वोद्धृत, पृ0 242–243।
28. महावग्ग, 1/4/2 तथा 8/1/2।
29. दीर्घ निकाय, 2, 72, 137।
30. महावग्ग, 1/4/2।
31. वही।
32. एम0 एम0 सिंह, लाइफ इन नार्थ ईस्टर्न इण्डिया, पृ0 240।
33. अर्थशास्त्र, 7/12।
34. महाभारत, भीश्म पर्व, अध्याय 9, श्लोक संख्या 13, 17, 16–27, 29–30, पृ0 2564।
35. वही, आदि पर्व, अध्याय 2, श्लोक संख्या 293, पृ0 40।
36. वही, द्रोण पर्व, अध्याय 3, श्लोक संख्या 4–6, पृ0 4118।
37. वही, वन पर्व, अध्याय 270, श्लोक संख्या 19, पृ0 1703।
38. वही, द्रोण पर्व, अध्याय 9, श्लोक संख्या 29, 43, पृ0 3103–3104।
39. वही, आदि पर्व, अध्याय 216, श्लोक संख्या 1, पृ0 615।
40. वही, सभा पर्व, अध्याय 26, श्लोक संख्या 6, पृ0 742।
41. वही, सभा पर्व, अध्याय 32, श्लोक संख्या 16, पृ0 763।
42. वही, सभा पर्व, अध्याय 53, श्लोक संख्या 16, पृ0 867।
43. वही, सभा पर्व, अध्याय 34, श्लोक संख्या 9–12।
44. जातक, 4/134, 6/34; जयशंकर मिश्रा, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 607।
45. वही, पृ0 607।
46. वही, पृ0 608।
47. विमल चन्द्र पाण्डेय, भारतवर्ष का इतिहास, पृ0 337।
48. रामगोपाल, पूर्वोद्धृत, पृ0 47।

●●●●

शोध छात्र, इतिहास विभाग
(राजीव गांधी नेशनल फेलो)
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

शोध-16

संस्कृत बौद्ध साहित्य में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था

प्रेम चन्द्र यादव*

भारतवर्ष में वर्ण भेद का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है परन्तु आरम्भिक युग में यह रुढ़ नहीं था। यहाँ के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में चातुर्वर्ण्य का उल्लेख तो है परन्तु उत्तर कालीन वर्ण व्यवस्था से सर्वथा भिन्न है। ऋग्वेद–कालीन भारतीय समाज में ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य एवं शूद्र वर्णों का अस्तित्व समाज के चतुर्वग के सादृश्य था, व्यक्ति विशेष को यह अधिकार प्राप्त था। बौद्ध साहित्य में वर्ण व्यवस्था के सम्बंध में जो धारणा व्यक्त की गई है वह उत्तर वैदिक काल के बाद की ही है। त्रिपिटक में अधिकतर प्रसंग ऐसे हैं जो बुद्ध द्वारा कथित वचन माने जाते हैं। इन बुद्ध वचनों से यह निष्कर्ष निकलता है कि बुद्ध के समकालीन भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था कर्मणा नहीं जन्मना मानी जाती थी। गौतम बुद्ध ने जिस धार्मिक एवं सामाजिक पुनरुत्थान का आन्दोलन प्रारम्भ किया वह 'बहुजन हिताय' था। उसमें निर्वाण का मार्ग सबके लिए उन्मुक्त किया गया था तथा सामाजिक जीवन में समानता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया था।

वर्ण–व्यवस्था के सम्बंध में भी उनका यह स्पष्ट मत था कि ब्राह्मण एवं क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होने से ही कोई ब्राह्मण एवं क्षत्रिय नहीं बन सकता। गौतम बुद्ध की दृष्टि में नैतिकता और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में जिसने सिद्धि प्राप्त कर ली है उसी को ब्राह्मण कहा जा सकता है। विनयपिटक में उन्होंने एक ब्राह्मण को ब्राह्मण की परिभाषा इस प्रकार बताई है–''ब्राह्मण वह है जो पाप से मुक्त हो, वृथाभिमानी न हो, निर्मलचित्त एवं संयमी हो, वेदांत का ज्ञाता हो, ब्रह्मचर्यव्रती हो तथा धर्म से ब्रह्मवादी हो और जिसमें समता की भावना हो तथा जिसके समान विश्व में अन्य कोई न हो।''[1] ऐसा व्यक्ति चाहें जिस भी कुल में जन्म लिया हो वह कर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय या अन्य कुल का कहलाने का अधिकारी है। वर्ण–व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बंध में भगवान बुद्ध श्रावस्ती में विहार करते हुए वशिष्ठ ब्राह्मण से कहते हैं कि क्षेत्रों का अधिपति होने से महासम्मत (महाजनों द्वारा सम्मत) का ही दूसरा नाम 'क्षत्रिय' पड़ा। जिन लोगों ने पापमय, अकुशल धर्मों को छोड़ दिया और जंगल में कुटी बनाकर आध्यात्म की ओर अग्रसर हुए उनका नाम 'ब्राह्मण' पड़ा। भौतिक सुखों में रत लोगों का नाम 'वैश्य' पड़ा एवं समाज के वे लोग, जो क्षुद्र आचरण करने वाले थे 'शूद्र' कहलाये।[2] इससे स्पष्ट होता है कि बुद्ध वर्ण–व्यवस्था को सामाजिक संविदा के रुप में देखते थे।

भारतीय समाज व्यवस्था का मूल आधार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था है जिसे दिव्यावदान में वर्ण 'चतुशक' भी कहा गया है।[3] वर्ण–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे। प्रायः ब्राह्मणों को ही श्रेष्ठ, परम, प्रवर तथा श्रेष्ठ माना जाता था परन्तु संस्कृत बौद्ध–साहित्य में उनके इस प्रवर रुप पर शंका उठाई गई साथ ही वर्ण क्रम ब्राह्मणों से प्रारम्भ न होकर क्षत्रियों से प्रारम्भ होता हुआ माना गया। यथा–क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र।[4] इससे यद्यपि ब्राह्मणों की उपेक्षा क्षत्रियों की श्रेष्ठता और ज्येष्ठता का प्रतिपादन किया गया है तथापि परम्परागत वर्ण क्रम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का भी उल्लेख किया गया है।[5]

ब्राह्मण– प्रचलित परम्परा के अनुसार वर्ण व्यवस्था दैवी संस्था है। दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों का जन्म ब्रह्मा के मुख से हुआ।[6] इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की भी उत्पत्ति का कारण वही बताया गया है। समाज में ब्राह्मणों का उच्च स्थान था और उनके वचनों में लोगों की आस्था थी।[7] उन्हें उदार कहा जाता था। ब्राह्मणत्व का आधार जन्म नहीं कर्म माना जाता था। उनमें माया, मान, राग, पापवृत्ति, तृष्णा, क्रोध और आत्ममोह से विरक्ति आवश्यक थी। वे श्रमणों और भिक्षुओं के समान त्यागी, तपस्वी और सदाचारी तथा शीलवंत माने जाते थे।[8] ब्राह्मणों का करणीय कार्य वेदाभ्यास[9] एवं अध्यापन[10] था। कुछ लोग कृषि, कृषक कार्य भी करते थे जिन्हें कृषक ब्राह्मण कहा जाता था।[11] दिव्यावदान में ब्राह्मणों की तीन कोटियाँ बताई गई है–

- प्रथम कोटि में वे ब्राह्मण थे जो अपनी सम्पत्ति छोड़कर जंगलों में जाकर घास–पूस, लकड़ी की कुटी बनाकर उसी में रहते हुए ध्यानमग्न अपना जीवन व्यतीत करते, भोजन के लिए गाँवों को जाते थे।[12]
- द्वितीय कोटि में 'बहिर्मनस्क ब्राह्मण' थे जो अपनी सम्पत्ति इत्यादि छोड़कर गाँव और बस्ती के बाहर चले जाते थे।[13]
- तृतीय कोटि के 'अध्यापक ब्राह्मण' थे जो ग्राम समाज में मंत्रपदों का स्वाध्याय करते थे और अध्यापन कार्य करते थे।[14]

इससे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण का गौरव त्याग, तपस्या, तितिक्षा पर ही आधारित था। ऊपर की तीनो कोटियों में ब्राह्मण दर्शन और उसकी वृत्ति–विधान का उल्लेख किया गया है। इसीलिए दोषयुक्त ब्राह्मण को अब्राह्मण ही कहा गया है। उन्हें कुमार्गी और मूढ़ बताया गया है। रौद्रचित्त, मांस–भक्षण, सुरा–पान, गुरुदाराभिगमन और ब्राह्मण हत्या चार ऐसे महान् पातक बताये गये हैं जिनमें से यदि एक भी दोश किसी ब्राह्मण में हो तो वह ब्राह्मण समाज में भ्रष्ट माना जाता था। उसका स्वागत आसन, अर्ध्य तथा ब्युत्थान द्वारा नहीं किया जाता था परन्तु वह पुनः 12 वर्ष तक वृत्तिचर्या करता हुआ ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर सकता था।[15]

शार्दूलकर्णावदान ब्राह्मण मार्ग अर्थात्

शील–आचार और मर्यादा का भी निरुपण करता है। ब्राह्मणों का अल्पसंख्यक वर्ग ही अपने प्राचीनतम् आदर्शों पर चल रहा था। तात्पर्य यह है कि तत्कालीन समाज में इस वर्ग की स्थिति विभिन्न शिल्पों एवं कार्यों के कारण विभिन्न प्रकार की हो गयी थी।

क्षत्रिय– अश्वघोष के अनुसार, क्षत्रियों का स्वर्ण के समान रंग, सिंह के समान चौड़ा वक्षस्थल तथा लम्बी भुजाएँ होती थी।[16] यह गुण और लक्षण पौरुष और पराक्रम के परिचायक थे। क्षत्रिय तीनों वेदों की शिक्षा प्राप्त करते थे।[17] इनका प्रमुख कार्य शत्रुओं को पराजित करना और प्रजा की रक्षा करना था। शार्दूलकर्णावदान में यह कहा गया है कि, ''जो लोग सालि क्षेत्रों का वपन करते हैं उनकी रक्षा करते हैं, उन्हीं को क्षत्रिय कह सकते हैं।''[18] इससे यह परिलक्षित होता है कि कृषि कर्म के साथ जनता की रक्षा करना इनका प्रमुख कार्य था।

तत्कालीन समाज में क्षत्रियों की स्थिति प्रतिस्पर्धात्मक थी। वे राज्य के स्वामी, राज्य मंत्री, सेनापति आदि उच्च पदों पर सामान्यतया प्रतिष्ठित होते थे, वे अपनी सभाओं में विवादास्पद विषयों पर निर्णय लिया करते थे। उनकी आर्थिक स्थिति ठीक थी। ये लोग वेतन लेकर भी कार्य किया करते थे।[19]

इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्कालीन समाज में ये समाज के कर्णधार थे। ये द्विज के अन्तर्गत आते थे। उत्तर वैदिक काल में ब्राह्मण धार्मिक क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी अधिकार स्थापित करने लगे थे। साथ ही धर्म के क्षेत्र में अन्य किसी वर्ण को प्रविष्ट नहीं होने देना चाहते थे। इसी की प्रतिक्रिया के फलस्वरुप क्षत्रियों ने भी अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने की प्रतिद्वंद्विता में आगे बढ़ने का प्रयास किया क्योंकि यदि वे ज्ञानार्जन, वेदाभ्यास आदि के क्षेत्र में पीछे रह जाते तो राज्य संचालन में भी असफल हो जाते। क्षत्रियों के लिए प्रजापालन मुख्य कार्य समझा जाता था। बुद्ध कालीन समाज में एक धार्मिक क्रांति की लहर दिखायी पड़ती है जिनका प्रारम्भ उपनिषद् एवं उत्तर वैदिक काल में ही हो चुका था, वह क्रांति पूर्ववर्त्ती व्यवस्था में आये दोषों की अंतिम परणति थी। उपनिषदों के क्षत्रिय ब्रह्मवेत्ताओं के समान बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रवर्तन भी क्षत्रिय ही थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्कालीन समाज में क्षत्रियों की स्थिति अन्य वर्णों से उच्चत्तर थी तथा ये लोग बौद्धिक क्षेत्र में विशेषतया तत्वज्ञान में ब्राह्मणों से आगे थे। ये लोग रक्त शुद्धि पर विशेष ध्यान देते थे। उन्होंने वर्णों से सीधा सम्बंध स्थापित करने का कार्य किया क्योंकि ये लोग राजनीतिक शक्ति के प्रतिनिधि थे। इसके अतिरिक्त इनका पारस्परिक संघर्ष भी बहुत महत्वपूर्ण रहा क्योंकि ये लोग गोत्र एवं कुल की मर्यादाओं को अत्यधिक महत्व देते थे। परिणामस्वरुप ये अपने में भी ऊँच–नीच का भेद–भाव रखते थे, साथ ही राज्य विस्तार की महत्वाकांक्षा भी अत्यधिक थी। इनका तत्कालीन पारस्परिक मतभेद इनकी महत्वांकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक सिद्ध हुआ।

वैश्य– प्राचीन साहित्य में यह उल्लिखित है कि जो कृषि, गो–रक्षा एवं वाणिज्य आदि से जुड़ा है वह वैश्य है।[20] अंगुत्तरनिकाय में जाणुस्सोणि ब्राह्मण ने भगवान बुद्ध से पूछा, वैश्यों के जीवन का आधार क्या है? उनके प्रधान विचार क्या है?किस कार्य से उनकी प्रतिष्ठा होती है? उनकी दृष्टि किस ओर आकृष्ट होती है? एवं उनकी संतुष्टि किस बात से होती है। इसके उत्तर में तथागत ने यह कहा– ''हे ब्राह्मण! वैश्यों के जीवन का उद्देश्य भोग्य पदार्थों का संग्रह करना होता है। उनका प्रधान विचार प्रज्ञावान बनने का होता है। उनकी प्रतिष्ठा शिल्प का ज्ञान होने से होती है। उनकी दृष्टि कर्मान्त पर होती है। उनकी परम संतुष्टि गृहस्थ धर्म के कार्यों की समाप्ति होने से होती है।''[21] बौद्ध साहित्य में 'गृहपति' शब्द का प्रयोग मुख्यतः वैश्यों के लिए ही हुआ है। इनके अतिरिक्त वर्णित महासाल, सेठी आदि शब्दों का भी प्रयोग वैश्यों के लिए होता है। इन लोगों ने अपने परिस्थिति के अनुसार व्यवसायों को स्वीकार कर लिया था। वे संघों और सार्थवाहों के साथ रहकर व्यापार कार्य करते थे।[22]

तत्कालीन समाज में वैश्यों के सम्बंध में बौद्ध साहित्य में बहुत से उदाहरण प्राप्त होते हैं। इसमें इनके धन संग्रह की कर्मठता, दानशीलता के उदाहरण प्राप्त होते हैं। विसहरजातक में घास बेचकर दान देने की कथा से वैश्यों की दानशीलता पर प्रकाश पड़ता है।[23] वैश्यों का सम्बंध राजपरिवार के लोगों से भी रहता था। इनको राजसभा में आमात्य मण्डल एवं ब्राह्मणों की भाँति समान स्थान प्राप्त होता था।[24]

इस प्रकार तत्कालीन समाज में वैश्यों का स्थान आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था। वे सामाजिक विकास की दिशा में अनिवार्य भूमिका सम्पन्न करते थे। उस समय के समाज में अनाथपिण्डक, मल्लिक, सोण आदि वैश्य अपनी दानप्रियता एवं सामाजिक स्तर के लिए प्रसिद्ध थे।

शूद्र– क्षुद्र जीविका कर्मों को अपनाने के कारण इन्हें शूद्र की संज्ञा दी गई।[25] गोप एवं नापित लोग इसी वर्ग में सम्मिलित थे। मनुस्मृति में शूद्रों का एकमात्र कर्म निरालस भाव से द्विज वर्ग की सेवा करना बतलाया गया है।[26] अश्वघोष ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया है।[27] बौद्ध साहित्य में इस सम्बंध में स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता कि शूद्रों का लक्ष्य क्या था और उनका कार्य क्या था? किन्तु यह संकेत अवश्य मिलता है कि ये लोग मिट्टी का बर्तन बनाने वाले कुम्भकार, मालाकार, लौहकार, स्वर्णकार आदि के शिल्पों को स्वीकार कर जीवन यापन करते थे। इन्होंने कृषि कर्म को भी अपना लिया था। अतः शूद्रों का स्वरुप अपने व्यवसायों के आधार पर ही पहचाना जाने लगा था। इनकी अपनी कोई परिषद् नहीं होती थी। मज्झिमनिकाय में केवल आठ परिषदों का उल्लेख हुआ है[28]– (1) क्षत्रिय परिषद् (2) ब्राह्मण परिषद् (3) गृहपति परिषद् (4) श्रमण परिषद् (5) चातुर्महाराजिक परिषद् (6) त्रायस्त्रिंषपरिशद् (देवता) (7) मार परिषद् (8) ब्रह्म परिषद्। इन परिषदों में शूद्रों की

गणना किसी भी परिषद् में नहीं की गई है। अतः ये लोग किसी परिषद् के न होने के कारण न किसी स्थान पर एकत्र हो सकते थे और न कोई निर्णय ले सकते थे। इनके सम्मान का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। अंगुत्तरनिकाय में कहा गया है कि भिक्षु एक आदमी नीच कुल में जन्म लेता है, दरिद्र कुल में जन्म ग्रहण करता है, अल्प खाद्य–पेय में दुर्जीविका के कुल में जहाँ कठिनाई से खाना–पीना मिलता है जैसे चाण्डाल कुल में, शिकारियों के कुल में वंश पौरव के कुल में, चमारों के कुल में, मालियों के कुल में वह दुर्वर्ण होता है दुर्दर्शनीय, लूला–लंगड़ा, रोग बहुल, काना होता है। उसे न अन्न–पान मिलता है, न वस्त्र मिलता है, न सवारी मिलती है, न माला, न गंध, न विलेपन मिलता है, न शैय्या मिलती है, न निवास स्थान मिलता है और न प्रकाश के लिए दीपक मिलता है।[29] इस उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रथम तो यह कि समाज में उनकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं थी और ये विभिन्न प्रकार के व्यवसायों को स्वीकार कर अपना जीवन यापन करते थे।

सम्पूर्ण समाज को यदि देखा जाये तो तीन वर्णों को छोड़कर शेष वर्णों की स्थिति सम्मानजनक नहीं थी। उस समय तक समाज में जातिगत भावना का विकास हो चुका था। सम्पूर्ण सामाजिक संरचना वर्णों पर नहीं अपितु जाति स्तम्भों पर आधारित हो चुकी थी।

पाद टिप्पणी–

1. विनयपिटक, महावग्ग, कथा, 2, पृ0 76।
2. दीर्घनिकाय, 3/4, पृ0 344।
3. दिव्यावदान, 328/4।
4. महावस्तु, भाग 2/139/5।
5. दिव्यावदान, 326/6–7, 14–15।
6. वही,
7. करुणा, 70/9–10।
8. महावस्तु, भाग 2/52/5।
9. करुणा, 144/24।
10. मनुस्मृति, 1/88।
11. अवदानशतक, भाग 1/295/6।
12. दिव्यावदान, 328/31/26।
13. वही, 328/27–29।
14. वही, 329/1–4।
15. वही, 322/11–323/16।
16. सौन्दरानन्द, 1/19।
17. ललितविस्तर, 451/7–8।
18. शार्दूलकणादान, पृ0 328।
19. जातक, भाग 4, पृ0 169।
20. महाभारत, भीष्म पर्व, 42–44।
21. अंगुत्तरनिकाय, भग 3, पृ0 69–70।
22. जातक, भाग 1, वण्णुपथजातक, पृ0 184।
23. जातक, भाग 3, विसहरजातक, पृ0 292।
24. दीर्घनिकाय, 2/4, पृ0 154।
25. दिव्यावदान, 329/7–8।
26. मनुस्मृति, 1/91।
27. बुद्धचर्या, 23/59।
28. मज्झिमनिकाय, 1/47।
29. अंगुत्तरनिकाय, पृ0 110।

●●●●

*शोध छात्र, प्राचीन इतिहास विभाग
मुरली मनोहर टाउन
स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बलिया

With Best Compliments From—

Mob.: 9305292293

Bharti Prakashan

Oriental Publishers & Distributors

&

All Types of Computer Job works

Rs. 8.00 Per Page (Double Space Size)

शोध-17

सामाजिक-सौहार्द्र के विकास में मध्ययुगीन हिन्दी मुस्लिम कवियों का योगदान

डॉ. अफरोज बेगम*

भारत एक विशाल देश हैं। यहाँ अनेक जाति वर्ण भाषा के लोग निवास करते हैं। देश का यह बड़ा दुर्भाग्य है, कि मध्ययुग से लेकर आज तक यहाँ जाति भड़क उठती है। दस–बीस हताहत होते हैं, लाखों की सम्पत्ति नष्ट हो जाती है। भय, त्रास और अशान्ति का प्रकोप होता है। ऐसे में विकास की गति धीमी पड़ जाती है।

पूर्वमध्यकाल, जिसे भक्तिकाल की संज्ञा से अभिहित किया जाता है, उसक दो खण्ड हैं– संत काव्य और सुफी काव्य। सगुण काव्य भी दो भागों में बँटा है– कृष्णाश्रयी शाखा और रामाश्रयी शाखा।

संत कवियों द्वारा एकेश्वरवाद में आस्था व्यक्त करते हुए जो निर्गुण–निराकार ईश्वर की भक्ति भाव व्यक्त हुआ निर्गुण सन्त काव्य कहलाया। संत–साहित्य पूर्वमध्ययुग का प्रारम्भिक काल रहा है। पूर्वमध्ययुग (भक्तिकाल) का उदय हिन्दू–मुस्लिम की आपस में टकराहट के बावजूद हुआ। किन्तु समय–समय पर अनेक मुस्लिम संत–कवियों ने इस आपसी वैमनस्य भाव को जड़ से समाप्त करने का निरन्तर प्रयास किया है।

संत–साहित्य राग–द्वेष से पृथक होकर सामाजिक कल्याण की भावधारा को पुष्ट करने का सशक्त माध्यम है। संत–साहित्य में मात्र गिने–चुने मुस्लिम कवि हुए। कबीरदास और रज्जब खाँ के काव्य में तत्कालीन समाज की विकृतियों, विसंगतियों, चिन्तन, आकांक्षाओं, आशाओं आदि की प्रतिध्वनि प्रतिश्रुत होती है। मनुष्य–मनुष्य के बीच सम्प्रदाय, धर्म, जाति अथवा विचार के कृत्रिम भेद को सर्वथा तुच्छ मानकर मुस्लिम संतों ने सबके आन्तरिक हृदय में प्रवाहित होने वाले विश्व–प्रेम और सौहार्दभाव को देखा और पहचाना तथा उसको अपनी बाणियों में व्यक्त किया। विद्रोह की तीखी ध्वनि उनकी वाणियों में विशेष रूप से मुखरित हुई है। इनके काव्य में किसी एक मतवाद या सम्प्रदाय का आभास नहीं मिलता वरन् इसमें अद्वैतवाद, वैष्णव–भक्ति भावना, सिद्धनाथों की साधना पद्धति आदि का समन्वय मिलता है। मुस्लिम संत काव्य लोकभाषा में रचित होने तथा काव्यशास्त्रीय नियमबद्धता से दूर होने के कारण यह मुक्त हृदयता के साथ जनसामान्य द्वारा अपनाया गया।

संत कबीरदास तथा रज्जब का काव्य निश्चय ही अपूर्व साहस तथा निर्भीकता का साहित्य है, जिसमें जर्जर और रूढ़ मान्यताओं के प्रति स्पष्ट और खुला विद्रोह किया गया है। अन्याय ने साथ लेशमात्र भी समझौता नहीं किया गया है। हिन्दू मुस्लिम के बीच घृणा, द्वेष, हिंसा की भयंकर ज्वाला को शान्त कर दोनों के बीच पारस्परिक सद्भाव स्थापित करने की चेष्टा की गयी है यथा–

'हिन्दू–तरक सुगौरे भाई काहू के मति होहु दुखदाई।[1]–
संतो देखत जग बौराना।
सांच कहौ तो मारन धावै
झूठाहिं जग पतियाना।[2]
पोथी पढ़ि–पढ़ि जग मुआ,
पण्डित भया न कोय
ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो
पण्डित कोय।[3]

ज्ञान, भक्ति और कर्म का विवेचन भारतीय धर्म और दर्शन का प्रधान अभिप्रेत रहा है। इस विचार–दर्शन का मुस्लिम संतों ने गीता, उपनिषद्, वेद से ग्रहण करते हुए भी अपनी अभिव्यक्ति में मौलिकता बनाए रखी है और इसी समन्वित विचार धारा के आधार पर मुस्लिम संतों का यह भक्ति–दर्शन श्रद्धा–विश्वास और प्रेमानुराग से अनुप्राणित है।

सत्यान्वेषी मुस्लिम संत सदैव अनुभूति के आधार पर ही सत्य की खोज निकालने का प्रयास करते थे–

''मैं कहता हौं आँखिन देखी, तू कहता कागद की देखी
मैं कहता सुरझावन हारी, तू राख्यौ उरझाई रे।[4]

मध्ययुग के मुस्लिम सन्तों को इस भावना में आध्यात्मिक, दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक वाणी सभी क्षेत्रों में पतनोन्मुख समाज को नैतिक एवं क्रियात्मक सम्बल देकर एक बार फिर अपने पैरों पर खड़ा होने का साहस प्रदान किया। इस मुस्लिम सन्तों की सबसे बड़ी देन यही है कि इन्होंने इस भावना को ऐसी अविछिन्न और सशक्त परम्परा प्रदान की जो आज तक अबाध–गांधी, अरविन्द तथा विनोवा भावे इसी परम्परा की आधुनिकतम फल हैं।

इस काल के निर्गुणोपासक मुस्लिम भक्तों की दूसरी शाखा सूफी काव्यधारा है। इसमें प्रेमगाथाओं के रूप में उस प्रेम–तत्त्व का वर्णन किया है, जो ईश्वर का मिलाने वाला है तथा जिसकी प्रतीति लौकिक प्रेम के रूप में होती है। मुल्ला दाऊद, कुतुबन, मंझन, उसमान, जायसी, शेखनबी और जैसे मुस्लिम कवियों के कारण ही इस सम्पूर्ण–साहित्य सूफी काव्य नाम से अभिहित हैं।

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है– ''सूफी आख्यान काव्यों की खण्डित परम्परा की यहीं समाप्ति मानी जा सकती है। इस परम्परा में मुस्लिम कवि ही हुए। केवल एक हिन्दू मिला है।''[5] सूफी कवियों ने अपने हृदय की राष्ट्रीय–भावना की अभिव्यक्ति बड़े ही सरल और मनोहर ढंग से की है। अरबी, फारसी की कहानियों से परिचित होते हुए भी भारत–भूमि के लोक–जीवन में प्रचलित कहानियों को अपनी रचना का विषय बनाया है। सूफी कवि जायसी एक ओर 'अखरावट', 'कान्हावत', 'आखिरी कलाम' आदि रचनाओं में कुरान

मज़ीद और हदीस में वर्णित इस्लाम के सिद्धान्तों में अपनी दृढ़ आस्था प्रकट करते हैं। जायसी अपनी रचनाओं के माध्यम से न केवल प्रेमाख्यान काव्य परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, वरन् अपनी रचनाओं के माध्यम से सम्पूर्ण मुस्लिम सूफी कवियों में सिरमौर बने हुए हैं।

सूफी–जगत् के कण–कण और सम्पूर्ण प्रकृति में उस परमशक्ति का आभास पाकर समस्त पार्थिक जगत् उसी प्रेम में अपने को निमग्न देाता है। सूफियों का प्रेम स्थूल से सूक्ष्म और वासनामय से शुद्ध सात्विक मनोवृत्ति की ओर अग्रसर होता है। वे प्रकृति और विश्व के कण–कण में आराध्य के सौन्दर्य का प्रेमपूर्ण–दर्शन कर आह्लादित होते हैं–

''चिरगि मुहब्बत से चमका के आलम
तुझे ज़र्रे–जर्रे में हम देखते हैं।''

सूफी–साधना और साहित्य का मुख्य उद्देश्य प्रेम, मेल–मिलाप और आपसी सौहार्द है। प्रसिद्ध सूफी मौलाना रूमी ने

''तू बराये वस्ल, करदन आदमी।
ने बराये फस्द, करदन आदमी।।''

अर्थात् तुम दुनियाँ में मेल–मिलाप करने के लिए आये हो, फसाद फैलाने और आदमी को अलग–अलग करने के लिए नहीं। भारतवर्ष में प्रत्येक सूफी–साधकों के ह्रदय में इस्लाम के समान हिन्दू धर्म के लिए भी आदर सम्मान था। हज़रत निजामुद्दीन औलिया कहा करते थे–
''कुफ्रो इस्लाम दर रहश पोया, बहदलूल शरीकुलह गोया।।''

अर्थात् हिन्दू और इस्लाम धर्म दोनों ही उसके पथ के पथिक हैं और दोनों उसी की ओर जा रहे हैं।

सम्पूर्ण सूफी–काव्य इन्हीं सूफियों–कवियों के पद–चिह्नों पर अग्रसर हुआ है। जायसी का सम्पूर्ण काव्य इसी एकता एवं समन्वय की भावना का परचम उठाये दिखायी देता हैं 'आखिरी–कलाम' में जायसी की सामंजस्य भावना बड़ी बलवती रही है। उन्होंने मृत्यु के फरश्ते 'अजराइल' को 'यम', अल्लाह के संहारक रूप को 'रूद्र' और 'नारद' को 'इबलीस' की संज्ञा दी है।[6] कुरान मज़ीद में कहा गया है कि, निःसंदेह अल्लाह के निकट वह मनुष्य सबसे अच्छा श्रेष्ठ है, जो इन्सान–इन्सान में भेद नहीं करता। मुल्ला दाऊद, कुतुंबन, मंझन, उसमान, जायसी शेखनबी जैसे सूफी मुस्लिम कवि इसी भावना से ओत–प्रोत हैं। इन लोगो ने जन–जन में प्रचलित लोक–भाषा अवधी और लोक–कथा की सहायता से अपनी अमरवाणी से सभी को रसाप्लावित कर दिया। 'अखरावट' में जायसी उदारवादी दिखाई देते हैं। ''विधना के मारग है तेरे/सरग नखत तन रोवां जेते''[8]। एक ही मूल वाली बाकी दो डालियाँ की भाँति हिन्दू–मुस्लिम की एक ब्रह्म के दो पक्ष है, फिर भी जाति भेद के कारण वैमनस्य बढ़ाना उचित नहीं–
''बिरिछ एक लागी हुई डारा। एकहि से नाना परकारा।
मातु के रखत पिता के बिन्दू। उपजै दूवौ तुरूक और हिन्दू।।[9]''

जायसी ने भाषा के आधार पर भी सामाजिक सौहार्द की बात की है। उन्होंने कहा है कि भाषा वही श्रेष्ठ है जिसमें प्रेम का वर्णन हो–

''तुरकी, अरबी, हिन्दुई भाषा तेजी आहि।
जेइ महि मारग प्रेम कर सबै सराहै तहिं।।[10]

इस प्रकार देखते हैं कि मुस्लिम संतों की भाँति सूफियों ने भी सामाजिक–सौहार्द के विकास में अविरल–गति से योगदान दिया है। ये काव्य अपने समय में तो महत्त्वपूर्ण था ही, वर्तमान समय में भी अर्थवान एवं प्रासंगिक है। यह हमारी ऐसी विरासत है, जिसे हमें कृतज्ञता के साथ स्वीकार करना है और संरक्षण देना है।

इस सन्दर्भ में मुस्लिम भक्त कवि रहीम और रसखान का योगदान भी है क्योंकि इन्होंने बताया सामाजिक–सौहार्द के विकास में मानव का मानव से प्रेम–भाव तथा भाई–चारा होना अति आवश्यक है। रहीम (अब्दुल रहीम खानखान) ने मुक्त काव्य के माध्यम से लोक–कल्याण और लोक–चेतना की बात कही। दोहा, सोरठा, कवित्त और बरबै के द्वारा लोक जीवन को सामाजिक भावों से आप्लावित होने के कारण रहीम ने 'रहीम–रत्नावली' में उपदेशात्मक शैली में लोगों को सद्बुद्धि एवं परस्पर बन्धुत्व भाव से भरा, जिसमें चौरासी–लाख योनियों मे मनुष्य को और संसार में प्रेम–मैत्री को श्रेष्ठ बताया है।

''ज्यों चौरासी लाख में, मानुष देह।
त्यों ही दुर्लभ जग में, सहज स्नेह।।[11]''

हिन्दी के मुस्लिम कृष्ण भक्तों में लोकप्रिय कवि 'रसखान' ने भी सामाजिक–सौहार्द स्थापित करने का प्रयास यथा सम्भव प्रयास किया है। इन्होंने अपनी नीतिपरक उक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, जिनमें मुख्य रूप से जीवन के प्रेमतत्व की बड़ी मार्मिक अभिव्यंजना हुई है–

प्रेम फाँस सौ फँसि सोई जिये सदाहि।
प्रेम मरम जनि बिना मरि कोउ जीवत नाहि।

पूर्वमध्ययुग के अनंतर उत्तरमध्ययुग आता है, जो रीतिकाल के नाम से जाना जाता है। रीतिकाल का प्रतिपाद्य विषय श्रृंगार वर्णन रहा है, लेकिन इसके साथ–साथ अन्य प्रवृत्तियाँ भी पनपती रही है, यथा सन्त–काव्य, सूफी–काव्य, नीति–काव्य, रामभक्ति–काव्य और कृष्ण–काव्य। रीतिकालीन मुस्लिम कवियों ने भी सामाजिक–सौहार्द के निर्माण में भक्तिकालीन मुस्लिम कवियों की भाँति ही अहम् भूमिका निभाई है। रीतिकाल में श्रृंगारिक काव्य धारा से वासना को जो बल मिला था, उसे रीतिकालीन प्रेमाख्यानों में बहुत कुछ ईश्वर एवं समाज परक बनाया। शारीरिक श्रृंगार के समानान्तर आध्यात्मिक श्रृंगार की जाह्नवी प्रवाहित करके रीति–कालीन प्रभाख्यानों मे मानव–समाज का परम कल्याण किया था। इनमें उल्लेखनीय उत्तर–मध्ययुगीन सूफी कवि हैं। यारी साहब, दरिया साहब, कासिम शाह, नूर मुहम्मद आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

इनके काव्य मे मानवीय एकता, प्रेम, नीति, भक्ति,

उपदेश तथा वीर भावों की अभिव्यंजना हुई है और इन्हीं प्रवृत्तियों के माध्यम से ही सामाजिक ढाँचे को लगातार बदलने की कोशिश की है। मुस्लिम होते हुए हिन्दू घराने की कहानियों को लिखकर साम्प्रदायिकता तथा हिन्दू–मुस्लिम के बीच मतभेद को मिटाकर दोनों की संस्कृतियों को आपस में मिलाने का प्रयास करते हैं। 'आलम' कवि कृष्ण भक्त थे वह समाज को जाति बंधन से मुक्त कर, मानवीय धरातल पर लाने का प्रयास करते हैं। उन्होंने भगवान श्री कृष्ण की बाल–लीला के वर्णन करते हुए लिखा है–

जसुदा कै अजिर विराजैमन मोहन जू
अंग रज लागै छवि छाजै सुरपाल की।
छोटे–छोटे आछै पग घूघरू घूमत घनै
जासौ चित हित लागै सोभा बाल जाल की।[12]

इसप्रकार हम कह सकते है कि, रीति कालीन साहित्य में जितने भी मुस्लिम कवि हुए, सभी का सामाजिक–मूल्यों एवं सामाजिक–सौहार्द की स्थापना में काफी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने अपने समय के पतनशील और गर्हित समाज को ऊपर उठाने का एक सफल प्रयास किया है। नूर मुहम्मद, शेख निसार, रसिक अली, कादिर शाह अली, आदि ये सभी मुस्लिम कवियों ने अपने तत्कालीन समय और समाज को एक सही गति–मति प्रदान करने की कोशिश की। इन्होंने योग, अध्यात्म, ज्ञान आदि से सम्बद्ध बातों का उपदेश अपनी रचनाओं के माध्यम से दिया एवं नाम स्मरण के माध्यम से निर्गुण ब्रह्म की उपासना करना ही इनका मुख्य सिद्धान्त और लक्ष्य था। सूफी संत दरिया साहब ने को उपदेश देते हैं–

भीतर मैलि चहल कै लागी ऊपर तन का धौवे है।
अवगति सुरति सहल के भीतर, वाका पन्थ न जोवै हैं।

रीतिकालीन सूफी मुस्लिम कवियों का काव्य भक्तिकालीन सूफी–कवियों के काव्य का अनुसरण करता दिखता है। इन्होंने अवधी भाषा तथा मसनवी शैली में अपने काव्यों की रचना की है। आध्यात्मिक प्रेमगाथाओं में प्रेम अर्थमूलक शब्दावली प्रमुख उपमान या प्रतीक के रूप में ही प्रयुक्त हुई है। कासिम शाह, नूरमुहम्मद जैसे मुस्लिम कवियों का अभीष्ट पारलौकिक प्रेम के माध्यम से सम्पूर्ण समाज को प्रेममय देखना रहा है। साथ ही लोक–चेतना का जागरण, लोकभाषा का महत्त्व, लौकिक–वर्ण्य–विषयों की प्रधानता, समन्वयात्मक दृष्टिकोण इन कवियों का मूल उद्देश्य था।

अनेक ऐसे भी मुस्लिम कवि हुए है, जिन्होंने अपनी रचनाओं में नीति विषयक उक्ति के माध्यम से सामाजिक–सौहार्द की बात कही है।

समग्रतः सम्पूर्ण मध्ययुगीन मुस्लिम कवियों के साहित्य का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि, यह काल एक विराट् धारा के रूप में मानवीय तथा सामाजिक धरातल पर खरा उतरता है जहाँ हिन्दू और मुस्लिम आपसी टकराहट तथा मतभेद को भूलकर एक दूसरे की संस्कृतियों, आचारों–विचारों को अपनाते नजर आते हैं। लोक मंगल, लोकचेतना, लोक–काव्य, लोक–भाषा, लोक–संस्कृति, लोक–मत को अपनी धूरी में समेटा हुआ यह सम्पूर्ण मध्ययुगीन साहित्य वर्तमान समय तथा समाज के लिए तत्कालीन समाज जैसा ही प्रासंगिक है। आज भी ऐसे साहित्य की आवश्यकता हमारे समय–समाज में महसूस की जा रही है, क्योंकि आज भी स्थिति वही है केवल काल का अन्तर है। अतः वर्तमान समय में इस विषय का अध्ययन सर्वथा प्रासंगिक है।

संदर्भ–

1. 'साखी' : कबीर
2. पूर्ववत्
3. पूर्ववत्
4. 'कबीर' : डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी
5. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
6. 'जायसी ग्रन्थावली' : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
7. 'आखरावट' : जायसी
8. 'जायसी ग्रंथावली' : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
9. पूर्ववत्
10. 'रहीम–रत्नावली' : रहीम दास
11. 'आलमकेलि : आलम

●●●●

D/o स्व. जुल्फेकार अहमद
म.नं.– 4/1158 वारीगढ़ही, तपोवन रामनगर वाराणसी

शोध-18

कौटिल्य अर्थशास्त्र में दासों की सामाजिक स्थिति

अरविन्द कुमार*

प्राचीन काल में दासों के अस्तित्व के बारे में देखा जाये तो ऋग्वैदिक काल में दास प्रथा प्रतिष्ठित हो चुकी थी। ऋग्वेद में दासों की प्राप्ति के लिए प्रार्थनायें की गई हैं। अनेक स्थानों पर दासों को उपहार के रुप में दिये जाने का भी उल्लेख मिलता है।[1] कदाचित दासों से घर के विविध कार्य कराये जाते थे। परन्तु सामान्यतया वे परिवार के सदस्य की तरह उनके साथ व्यवहार किया जाता था। ऋग्वेद में एक स्थान पर दासों के कल्याण के लिए प्रार्थना की गयी है।

कौटिल्य काल या मौर्य युग में दासों के अस्तित्व में भारतीय एवं यूनानी साक्ष्यों में हमें मतभेद दिखायी देता है। यूनानी लेखक मौर्य युग में दासों के अस्तित्व से असहमत हैं।[2] उनके मतानुसार भारत में दास प्रथा का प्रचलन नहीं है।[3] मेगस्थनीज के अनुसार 'लैकडेमोनियायी है लैटो' को अपने यहाँ दास रखते थे और दासों की तरह उनसे श्रम कराते थे किन्तु भारतीय विदेशियों को भी दास नहीं बनाते थे और अपने देशवासी को तो कदापि नहीं।[4] यूनानी लेखकों का जो विचार है कि भारतीय दास नहीं रखते थे इसके पीछे यही कारण है कि भारतीय लोग अपने दासों के साथ पारिवारिक सदस्य जैसा व्यवहार करते थे।

यूनानी साक्ष्यों के विपरीत भारतीय साक्ष्य मौर्य युगीन भारत में दासों के अस्तित्व से भली–भांति परिचित थे। अर्थशास्त्र, स्मृतियाँ एवं अशोक के लेख दास प्रथा के प्रचलन के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। भारतीय लोग अपने दासों के साथ अमानवीय व्यवहार नहीं करते थे, इसलिए यूनानी लेखकों को भारत में दासों का अस्तित्व के बारे में संशय दिखायी दिया। दासों का स्वरुप गुलाम जैसा था लेकिन भारत में गुलामों का अस्तित्व का अभाव दिखायी देता है। भारत में दास का क्रय कम्मकार अथवा मजदूर के समान था। भारत में दासों से निम्नतम् एवं अस्वच्छ कार्य नहीं कराया जाता था बल्कि उनसे गृह एवं कृषि कार्य कराये जाते थे। वे कृषि और गृहस्थी के विभिन्न कार्यों में मदद करते थे। दासों को आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान थी। वे अपने घर के मालिक थे। उस युग में दासों के सुख–सुविधा एवं स्वतत्रंता को देखकर ही यूनानी लेखको को भारतीय दास वास्तविक अर्थों में अथवा गुलाम के अर्थ में दास प्रतीत नहीं हुए थे।[5]

दास कर्म– भारतीय दास अधिकांशतः शूद्र वर्णिय होते थे। इनकी नियुक्ति प्रायः कृषि कर्म के हेतु मजदूरी के लिए किया जाता था।[6] राज्य की ओर से दासों को कभी–कभी भूमि जोतने एवं बोने के लिए दिया करता था एवं साथ ही साथ कृषि के समस्त उत्पादन भी प्रदान किया जाता था।[7] दास को कभी–कभी बढ़ई एवं लोहार का कार्य करते हुए भी देखा जा सकता है।[8] इनसे यह अनुमान निश्चित है कि ये दास शिल्प कार्य भी करते थे। दास लोग कम्मकार सीताध्यक्ष के निरीक्षण में कार्य करते थे। राम शरण शर्मा के अनुसार मौर्य साम्राज्य में दासों को नियुक्त करने एवं काम देने वाले सबसे बड़ा रोजगार विभाग था।[9] दासियों की नियुक्ति अधिकाशतः घरों के कार्यों के लिए किया जाता था। मौर्य युगीन राजभवन एवं धनाढ्यजन लोग अपने घरों में दासों को नौकरों के रुप में रखते थे। सैन्य विभाग में अश्व हस्ति आदि की देखभाल करने के लिए दासों को नियुक्त किया जाता था। अतः सेना में दासों की नियुक्ति सिपाही के रुप में नहीं बल्कि चाकर के रुप में नियुक्त किया जाता था।[10]

दासों की मजदूरी– मौर्य युग में दासों को कर मुक्त रखा गया था। दास जो श्रम करते थे उनके एवज के रुप में वेतन प्रदान किया जाता था। दासों का वेतन एवं धन्य दोनों रुपों में मिलता था। उस काल में खेतीहर मजदूर (दास) की मजदूरी भोजन सहित 12/3 माशक दिया जाता था।[11] कौटिल्य के अनुसार कृषि कार्य में नियुक्त दास को अनाज का 1/10 भाग एवं व्यापार कार्य में नियुक्त दास चाकर को लाभ का 1/20 भाग दिया जाता था।[12] कौटिल्य ने 'अध्यक्ष' के भण्डारगृह में सहायता करने वाले दास को मजदूरी में चावल देने का प्रावधान बनाया था।[13]

दासों की स्वतत्रंता– कौटिल्य ने दासों से गर्हित कार्य करने के विरोधी थे।[14] वे दासों से गर्हित कार्य कराने जैसे मुर्दा ढ़ोने, मल–मूत्र साफ करने, उच्छिश्ट भोजन की सफाई करने एवं नग्न स्नान के समय दासी से कार्य लेने की मनाही की।[15] दास को आर्थिक अधिकार प्राप्त था। दासों की स्थिति मौर्य युग में हेय एवं दयनीय नहीं थी। वे भली प्रकार खुशहाल थे।[16] दासों को रहने के लिए राज्य की ओर से पृथक दास ग्रामों की व्यवस्था की गई थी।[17] दासों को शिक्षा प्राप्त करने एवं धार्मिक कार्यों में भाग लेने का अधिकार प्राप्त था।[18] दास तद्युगीन समाज में अन्य वर्णों की सेवा अवश्य करता था, परन्तु यह वर्ग उपेक्षित नहीं माना जाता था। इसी कारण यूनानियों को भारत में दासों के अस्तित्व के प्रति शंका जगी थी।

यदि स्त्री दास अपने मालिक के पुत्र की पत्नी हो जाती थी, तो कौटिल्य ने उन्हें दासत्व से मुक्ति का प्रावधान बनाया था।[19] दास कर्म से मुक्त होने पर वे दास पुनः आर्य नहीं हो जा सकते थे। दास के सम्बंध में कौटिल्य ने कुछ नियमों का निर्धारण किया था। जैसे आठ साल तक के बालक दास से कठोर कार्य नहीं कराये जा सकते थे। बालक दासों को विदेशों में बेचा नहीं जा सकता था।[20] गर्भवती दास स्त्री को भी विदेशों में बेचा नहीं जा सकता था। स्वामी बिना कारण किसी दास को बंदी नहीं बना सकता था।[21] दासों के साथ पूर्णतः अमानवोचित व्यवहार नहीं किया जा सकता था।[22]

इन सुविधाओं के अतिरिक्त दासों के न्याय अधिकार सीमित कर दिये गये थे। वे अपने मालिकों के विरुद्ध गवाही नहीं दे सकते थे।[23] उनको अपने स्वामी की तरफ से या स्वामी

के साथ किसी समझौते में भाग लेने का अधिकार प्राप्त नहीं था।[24] अर्थशास्त्र में पांच प्रकार के दासों का वर्णन मिलता है–

1. युद्ध में पकड़े गये दास (ध्वाजाहुत दास)
2. दुर्भिक्ष वश दास
3. ऋण ग्रस्तता वश
4. धनाभाव के कारण
5. पैतृक दास।[25]

दास चाहे जिस कोटि का होता था, सबके प्रति दयापूर्ण व्यवहार किया जाता था।

दास और दण्ड– दासों के लिए दण्ड व्यवस्था का भी प्रबन्ध किया गया था। यदि दास अपने कार्य की उपेक्षा करता था, तो उसे अर्थदण्ड दिया जाता था। दण्ड उतना ही दिया जाता था, जितना दास चुका सके। कौटिल्य ने दास को 12 पण तक जुर्माना देने की व्यवस्था किया था। दास यदि झूठी गवाही देता था, तो कौटिल्य ने ऐसे झूठे गवाह को कठोर दण्ड देने का विधान बनाया था।[26] यदि कोई दास चोरी करता था तो उसे भी कठोर दण्ड दिया जाता था।[27]

दास एवं स्वामी– मौर्य युग में दासों के प्रति दुर्व्यवहार करना अपराध के समान समझा जाता था। जो मालिक दास से निम्नतम कार्य कराता था, उसे दास के क्रय मूल्य से वंचित होना पड़ता था। यदि कोई स्वामी अपनी दासी के साथ बलात्कार करता था तो उसे न केवल क्रय मूल्य से वंचित होना पड़ता था, बल्कि उसे दण्ड स्वरुप शुल्क भी देना पड़ता था।[28] तद्युगीन समाज मे मलेच्छ अपनी संतान का विक्रय कर सकता था, परन्तु कोई व्यक्ति किसी आर्य को दास बनना चाहे तो दास नहीं बना सकता था।[29] देखा जाये तो मौर्य युग में दासो की स्थिति पूर्वकालीन समाज की अपेक्षा अधिक सम्पन्न और स्वतंत्रतापूर्ण थी। तद्युगीन समाज में दासों के प्रति अतीत मानवोचित व्यवहार इस तथ्य का परिचायक है, कि मौर्य युगीन समाज कितना अधिक संभ्रात, मानवीय गुण सम्पन्न, उदार एवं सहृदय था।[30]

समाज का उच्च नैतिक स्तर– मौर्य युगीन समाज सभ्यता के उच्च शिखर पर पहुँच चुका था। तद्युगीन संभ्रान्त व्यक्ति कला के प्रति प्रेमपूर्ण एवं सौर्दयप्रिय जीवन जीते थे। तत्कालीन समाज में किसी व्यक्ति का स्वागत हाथ उठाकर प्रणाम करके किया जाता था। मौर्य कालीन भारतीयों का जीवन अति संयमित था, लेकिन विवाद रुप में समाज का कुछ भाग अति विलासी जीवन भी व्यतीत करता था। यह वर्ग अपने काया का ही पुजारी था। इस वर्ग के जीवन में सुरा एवं सुन्दरी का प्रमुख स्थान था। किन्तु सुरा, सुदंरी और समृद्धि के मध्य भी संयम एवं उच्च नैतिक स्तर कायम था। तद्युगीन जनसाधारण के गुण ईमानदारी, कर्त्तव्य, ज्ञान, देशप्रेम एवं सच्चरिता आदि थे। मेगस्थनीज के प्रशंसित शब्दों में भारतीयों का जीवन काफी सुखमय था। "यज्ञों को छोड़कर वे कभी सुरापान नहीं करते थे। चोरी की घटना बहुत कम होती थी। वे अपने घरों एवं सम्पत्तियों को बिना सुरक्षित अवस्था में छोड़ कर कही भी जा सकते थे। उनके कानूनों एवं समझौतों की सरलता इस बात से सिद्ध होती है कि वे बहुत कम न्याय की शरण लेते है....। सत्य एवं गुण का वे आदर करते हैं इसलिए वे व्यक्ति को तब तक कोई विशेष मान प्रदान नहीं करते जब तक उनके अदंर उत्कृष्ट ज्ञान नहीं होता।"[31]

मौर्य युगीन समाज समकालीन धर्म से काफी प्रभावित था। उस समय हिन्दू, बौद्ध एवं जैन आदि समस्त धर्म उच्च शिखर पर थे। उस समय धार्मिक सिद्धान्तों के मध्य उस समय नैतिक संतुलन कायम था। सम्राट अशोक के नीति प्रधान धर्म प्रचार से संभ्रात वर्ग से लेकर साधारण वर्ग की जनता के मध्य नैतिक स्तर को काफी प्रभावित एवं उन्नत किया। नैतिकता प्रधान समाज के साथ–साथ आध्यात्मिकता का बीज भी अंकुरित हो चुका था। मौर्य युग को हम धर्म, अर्थ एवं काम के समन्वय का युग कह सकते हैं। कौटिल्य यद्यपि अर्थ एवं नीति को अधिक महत्व देते थे, परन्तु प्रचलित धर्म सम्प्रदायों ने अर्थ एवं धर्म के भाग्य संतुलन बनाये रखने में बहुत सहयोग दिया था। समन्वयात्मक समाज के कारण ही जनसाधारण का नैतिक स्तर बहुत ऊँचे शिखर पर पहुँच चुका था।[32]

संदर्भ–

1. ऋग्वेद, 3/46/32, 8/56/3।
2. स्ट्रैबो, 15.1.54।
3. एरियन, इण्डिका, पृ0 10।
4. फ्रैग्मेन्ट्स, 25, पृ0 68–69।
5. ब्रेलोर, कौटिल्य स्टडीज, भाग 3, पृ0 11–69।
6. अर्थशास्त्र, 2.14।
7. वही।
8. वही।
9. रामशरण शर्मा, शूद्राज इन एशियन्ट इण्डिया, पृ0 149–150।
10. अर्थशास्त्र, 9.2।
11. वही, 2.24।
12. वही, 2.13।
13. वही, 2.15।
14. वही, 3.13।
15. वही।
16. रामशरण शर्मा, पूर्वोद्धृत, पृ0 157।
17. अर्थशास्त्र, 2.35।
18. वही, 1.10।
19. वही, 2.13।
20. वही।
21. वही।
22. शशि अवस्थी, प्राचीन भारतीय समाज, नई दिल्ली, 1983, पृ0 352।
23. अर्थशास्त्र, 3.2।
24. वही, 3.1।
25. वही, 3.13।
26. वही, 3.2।
27. वही, 4.6।
28. वही, 3.13।
29. वही।
30. शशि अवस्थी, पूर्वोद्धृत, पृ0 353।
31. वही।
32. वही, पृ0 353–354।

●●●●

*शोध छात्र, इतिहास विभाग
(राजीव गांधी नेशनल फेलो) म0गाँ0का0वि0, वाराणसी

शोध-19

BANKING SYSTEM DURING GUPTA PERIOD

Dr. Seema Mishra*

Banking has always been the important feature of economic life. The industrial and economic rise of any country depends upon it so every country pays much attention for developing their banks due to its importance.

Banking has always been the important feature of economic life. The industrial and economic rise of any country depends upon it so every country pays much attention for developing their banks due to its importance.

If we turn back and go in ancient time we examine the transaction of money, which is termed as 'Banking in the modern time, was not a new business. It was in existence from very beginning. Though it was not developed as a strong and organised body like to days banking. Transactions of money were in vogue in 200 BC in Babylonia. The credit card were written on clay seals in Assyria in 700 BC. According to Marshall "We find the evidence of early banking after watching the history of Chaldea, Fonosia and Egypt". He writes- "The temple of God Dulphi and other safe places were used to keep treasure of metals before the minting of coins and payments of interest given as loan for personal and public works ".

In india we also find the evidence of the existence of this system from very beginnig. In the Rgvedic Age, there were creditors and debtors "Ana' whether spiritual or material was hold to be a sacrosanct contractual obligation. In many ancient society the very idea of taking interest was considered to be reprehensible and the act of charging interest high or low as thought to be immoral.

From these examples we can have an idea of existing the transaction of maney in ancient time, which further developed as a strong body of economic life. The causes of rising the banking system is not very clear but it may be said that in ancient time peaople need to fing a place where they could deposit their money safely. Perhaps this necessity led to the development of system like banking but the actual reasons are not known.

If we want to know anything about banking in Gupta period, we have to depend on the literary sources of Manu, Narada, Brihaspati and also on epigraphic inscriptions. These law makers and archeological evidences give vivid details about the condition's of banking, their economic and other uses and the other information related to it. The literary sources of Manu, Narad and Brihaspati indicates that there were a strong and organised corporations like were a strong and organised corporations like "*Sreni*", "*Nigama*" *and* "*Sresthi*" in the economic society of Gupta period. The clay seals of Basarh (Ancient Vaisali) also throws lighty upon the guild organisation of the period. The various legends ith others occur on a great numbers of them- "*Sresthi-Sarthvaha- Kulika Nigama, Sresthi-Kulika Nigama, Sresthia-Nigama,Kulika-Nigama, Prathama-Kulika*". Banking was also one of the activities of these guilds, namely the receipt of deposits, it's investment and the payments of interest on the same. The Indore Copper Plate inscription of AD 465 gives an evidence of a "*Tailkia sreni*", guild of oilmen which was trusted even by a Brahman from Indrapura (indore) a sum of donation to be held by it pereceptivity (Ajsrikram) under a contract which was registered (Nibandh). From the interest of which the sreni according to it's agreement will give the two 'Palas' of oil for burnning the lamp in the sun temple at that place. This example shows that the guild most use the investment of this donation in their own business or lent to others and by it's investment he used to provide two Palas of oil for burning lamp.

The Mandsor Inscription of the reign of Kumargupta I (N0.8) mentions a guild of silk-weaers (Pattavayasreni) and its prosperous finances as shown by its construction of an unequalled tempes of the sun. From these evidence we can guess that these guild was playing a role of bank. They deposited the public money and must pay some interest on them. They invested these money in the joint business and pay a regular interest to the depositors. Such evidences proves the existence of "investment" and "interest" in Gupta period which later on became the important feature of Banking system as to days. It can be also said that guilds as banker served multifuncionally, which profited the guild on the one hand, the person/ organisation who deposited the money on other and thirdly the one on whom the interest was to be spent.

Sometimes banking were undertaken by other bodies then Srenis. The governing body of the Mahavihar at Kakanadabota (Sanchi), the 'Arya Samgha, with its executive called the "Panchmandali", received a perpetual donaion for the benefit of its monks (N0.62). These evidences shows that banking was a great part of these guild

and they played a role of bankers by not only deposited their money and gave interest to them but also they used their interest in religious and social welfare. As the example is mentioned above, we make the conclusion that these organisations used the investment not only in religious purpose but also in construction of the assembly houses, shelter and garden.

We also find these guild banks working as trustees. These corporations gave facilities to private philanthropists by taking permanent custody of their gifts which they held intact as trust property (Akshaynivi). On these permanent deposits they allowed payment of interest and agreed to spend this income on the objects mentioned by the donors. Though they were paying interest on the deposits so it is acceptable that they were using the profit of the donations or depodits on their ownaccounts. Thus these guild were acting as trustees by giving the guarantee of private charities from unsecurity, loss and embezzlement.

Interest rate is also a crucial feature of banking system and Gupta period also provides enough evidence on it. The smritikars like Manu,Katyayana, Narada and Brahaspati and other literary records give vivid details by such charges specially for non-payment of debt. Manu and Katyayan's information is based on Gautama and Vishnu Purana which gives a general rule that the interest was not to executed the principal but selected articles were allowed maximum interest at special rates. The rate allowed were- "Five times the loan for grain, fruits, wool and beasts of burden (Manu), eight times the loan in the case of gold, grain, cloth and the fluid respectively. Four times the loan in the copper and some other articles (Brahaspati),. twice in the loan in case of jewels, pearls, coral gold and silver, fruits and silken cloth and woolens; five times the same in case of metals other than gold and silver, eight the same in case of liquor, classified butter, molasses, salt and land. The general rate of interest was 15 percent per annum according to them.

Apart from these organised body, which were engaged in banking we also find the existence of unorganised banking system in Gupta period. It was existed perhaps in the form of lending money individually. Money lending or useing existed in India from very beginning and Gupta period was no exception to it. The lawgivers of this period lay down the rules and regulations for lendingt money on interest. Manu and Gautam include the income accruing from money- landing acquiring wealth. In general the law-givers does not allow the Brahaman and Kshartiya to lemt money but usury was allowed all classes of men in great trouble.

We also know the evdences of giving loan to the people in their need by these unorganised or individual banks. Brihaspati gave the list of that things on which loan issued. Hi stated that gold and other precious metal like tin, gold lead, clothes, grain honey, cattle, seeds, wool, salt, oil and even slave- woman were available on loan. About the interest of such things Brihaspati said- "the interest on gold grows to twice, clothes and base metals to thrice, grain edible plants, cattle and wool four times, salt, oil and spirit to eight". According to Narada in some countries a loan grows to twice the principal in others 3, 4, or 8 times gold may grow to twice, grain to the thrice, cloth to four times, interest on woman and cattle may grow up to their one issue. The normal rates on such individual money- lending was 1 1/4 percent per month or is per annum. The rate of interest were also varied from one caste to another, the lowest being paid by the Brahman. perhaps it was due to the strong position of the upper classes in society. The smirities gives a picture that Brahmans were told to give the interest of 2 per month, military classes 3% 4% from the Vaisya classes and 5% the labouring classes like Sudras. on unsecured loans Brahmana Kshatriya Vaisya and Sudra paid interest also as 24, 36, 48 and 60% per annum. Though we find the information about the rule of taking interest on secured and unsecured loans but these were some cases that no interest can be taken. If a short-term loan is taken from a friend, it can not be charged unless there is any agreement for the purpose. But after the lapse of half a year the interest can proceed even without such an agreement.

If we watch the reputation of these guilds as banks, we find it very strong in society. The evidence shows that the people had full faith on these banks to induce their sum of money. Not only the common people but also even the king does not seem to hesitate to deposit their money in them. Chandra Gupta II permanently deposited 20 Dinaras in two installments, apparently with a corporate body and out of their interest endowed two alms-houses. In the same way Kumar Gupta deposited 13 Dinraras on one occasion and 12 on other occasion to the guild. From these example we can have an idea that their business transactions must have been characterised by honestly and fair- dealings. Though the people had full faith in these institutions but there also a system of written contract on documents of loans. Brihaspati stated that a creditor must have secured a pledge of a deposit with a bond written by the debtor himself before lending money. This, type of pledge was known as "Bandha". This

pledge must be preserved preciously in the same condition as it, the time of its delivery otherwise the creditor should have no interest. Various terms and condition is given by the lawgivers for the perseverance of the pledge. They also emphasised on the duty and responsibilities of its surety to debtor, the punishments in the term of not paying the interest or debt.

When we see the role of state in these banks, we find that the state had very little responsibilities and interfered only in extreme cases. The individual banks frame their own rules and regulations and local customs were often used in the recovery of debts. Brihaspati declares that it is by local customs that both the loan and its recovery should be regulated.

Thus, we see that modern banking like to days were existed in Gupta period. Like to day's banks there were the system of interest, investment and their uses for public welfare. Though picture is not very clear but from the evidences it is clear that there were some institution which were engaged in the work as bankers and played a vital role in the economy of Gupta period.

References

1. टी. टी. सेट्ठी – मुद्रा बैंकिंग तथा अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार,पृ. 159
2. Ibid
3. Ibid
4. Marshall-"Money credit and commerce", pub.1923, p.295.
5. A.k. Majumdar- 'concise history of Ancient India", vol. 2, pub.1980, p.193.
6. R.S. Sharma-"perspectives in social and Economic History of Early india", pub.1980, p. 193.
7. S.K. Maity-"Economic life of Northern India in the Gupta age, pub. 1957, p. 156.
8. V.R.R. Dixitar-Gupta polity, pub. 1952, p. 270.
9. Fleet- Corpus Inscriptionum Indicaru, No. 7, p. 36.
10. Radha Kumud Mukherjee- The Gupta Empire, pub. 1973, p. 149.
11. Ibid (Fleet-C.I.I.,Vol. 3, p. 31, p. 261).
12. Ibid
13. Sarala- Khosla-Gupta civilization, pub.1983, p. 61.
14. Ibid
15. S.K. Maity- Economic life of India in Gupta period,pub. 1957, p. 178.
16. S.K. Maity-Economic life of India Gupta period, p. 179.
17. Brihaspati Smriti X. 17-18.
18. Narada Smriti 1. 99, Brihaspati, X. 22.
19. S.K. Maity- Economic life of india in Gupta period-pub. 1957, p. 183.
20. Ibid
21. Narada Smriti, 1. 108.
22. Fleet-C.I.I.,p. 38 Line 7 and 16.
23. S.K. Maity-Economic life in, pub. 1957, p. 180.
24. Ibid (Drihaspati Smriti XIII 24; Narada Smrity I. 105).

●●●●

*Lecturer, Deptt. of History,
Mahatma Gandhi Kashi Vidyapith, Varanasi

शोध-20

CHALLENGES FOR BANK MERGERS IN INDIA

Brajesh Kumar Tiwari*

It is true that merger process makes a bank to become strong and stronger bank so as to compete in global market but various problems are involved in the process of mergers. These, problems pose serious challenges before the banks involved in mergers. Some of the challenges are:

1. RECOVERY OF BAD LOANS: Bad debts or the non-performing assets are an important aspect to be considered during any banking consolidation. This definitely has an impact on the performance of the companies. Post merger, it is imperative that this item of the banks is recovered as much as possible which was desired by the acquiring company at the time of going for the merger.

2. IT IMPLICATION: Technology is an integral part of modern banking system and it is a critical aspect in merger too. Therefore, compatibility of technology platforms of two merging banking units is to be considered carefully prior to the merger. The degree of technology overlap depends upon the IT maturity of the two organizations. The more techno-savvy the organization is, the higher is the redundancy. At the same time, a tech-savvy bank offers greater benefit to the acquirer in the form of a larger pool of technology experts. The major challenge is existing infrastructure of the acquiring bank scaling up to the degree envisaged over a span of 2-3 years. Each bank has its own data centre. By consolidating data centers, an enormous amount of costs can be saved. There could be cases where both banks have different hardware, different networks, different databases vendors, use different technologies for scanning cheques and they may not even speak the same computer language.

Indian banks are one of the most technologically advanced with vast networks of branches empowered by strong banking systems, and their product and channel distribution capabilities are on par with those of the leading banks in the world, says a survey by McKinsey. It also reveals that IT effectiveness at the top Indian banks is world class.

2.1 The role of Technology:-

In a merger process in banking industry about 55% of synergies come from IT. According to the Boston Consulting Group, in typical integration, 20-25% of synergies are direct IT synergy, and an additional 25-30% is IT-enabled synergy, which refers to back-office operations, customer service, finance, risk management, payroll, etc.

The integration of technology at the time of bank mergers creates problems for all concerned-banks, customers, partners and peers. Hence, it is imperative for banks to address the following:

- Inventory systems
- System redundancies
- Platform compatibility
- Integration costs

The target bank may be technologically advanced, but the issue is, whether the current infrastructure can be scaled to meet the demands of combined entity. In fact, several bank merges have performed lower than expected due to the inability of integrating IT as shown in the example. This, in turn, can lead to lowered customer satisfaction.

In 2002, three large Japanese banks merged to form one financial group called Mizuho Financial Group. Though a powerful entity, the group was unable to make their systems compatible before the merger was effected. The result ATM operation froze throughout Japan, causing a lot of frustration to customers. As shown in the figure, IT integration is the most important factor influencing the success of a merger. In India, any merger had to deal mostly with operational, management and cultural issues, as traditionally banks did not have much technology. However, things have now changed with most bank being technologically advanced, implementing centralized banking solutions, and networks. There are a number of centralized banking solutions in the market and banks either have already implemented, or, are in his process of implementing those suitable for their requirements. Also, each bank has its own network architecture. Technology integration, hence, may pose a challenge for future consolidation initiatives.

2.2 Technology Integration- What needs to be done?

Technology is a major study point when a potential merger is being evaluated. The target bank's systems and their features and functions need to be studied. The systems cost and profitability must be assessed. The acquiring bank can fully utilize business intelligence tools to determine the feasibility of target systems, post merger. The tools will also yield critical data about the system costs and profitability that will help budged operational and capital costs function more accurately after the merger.

In order to understand the best long term Return on

Investment (Rol) it is critical to look at the systems of a combined entity, yet technology is not given the due importance in pre merger decisions. The result is that banks are unable to recognize the potential problems in technology integration, thus leading to unexpected expenditure and delays in achieving targets. Hence, It leadership must be involved right at the outset of the deal. Post merger, lead times could be very high; hence it's essential to perform risk assessment and skills assessment of various technologies at the initial stages.

3. **HUMAN RESOURCES ISSUE:** Human resources are another sensitive issue in view of consolidation. Any merger leads to a good number of employees loose their job. It applies to Indian banking system also, so it is important to sort out this issue before merger.

As per study of the Indian Banking Industry by FICCI in October 2005, 88% of public and private sector banks considered HRD related issues as one of the biggest challenge in the process of consolidation, while 64% of them voted for Cultural differences as one of the confronting issues. In 2001, about 11% bank employees opted for the first-ever voluntary retirement scheme in the state-run banking industry. The consolidation drive will make more employees redundant. Besides, it will also call for large-scale redeployment of employees. Traditionally, employees in public sector banks are loath to move from one table to another of the same branch. Now the trade unions seem to be willing to allow for employees within a district. Mergers will force them to move one state to another.

As per an ILO report on "The employment impact to mergers and acquisitions in the banking and financial services sector' statistics show that the number of employees laid off could reach 300,000 in few years. It is very important for both parties before coming to an agreement to examine carefully how customers are treated, how the employees are treated and how the bank started concentrating on human issues. Banks mulling mergers must follow the advice given by Jeffrey Sonnenfeld, the human resources guru, "Take at least as much time as you spend with your financial analysts and spend it with your employees. People care about where they work, make them a strategic partner." Different policies, procedures, and culture of two merging companies create stress for the employees. The employees may suffer because of job dislocation, service disruption, etc, HR can handle this kind of situation by playing a strategic role during the deal Employees may agree to these changes based on public interest and look for long-term is the oriental bank of Commerce, a public sector bank, acquiring a employee interest along with the bank's interest, i.e., expanding its branch network in the South and up gradation of technology.

According to the ILO report, M&A is "invariably accompanied by announcements of job reductions, sometimes on a massive scale." It is a well-known fact that whenever bank mergers take place there will be a downsizing. Two Berlin banks, Deursche Bank and Disconto-Gesellschaft, merged in 1929. At that time, they downsized the total staff by one fourth. More than 1.3 lakh finance jobs disappeared from Western Europe in the 1990. Twelve thousand jobs were eliminated in the merger between Chemical Bank and Chase manhattan in 1995. So far at least three lakh finance jobs have disappeared from Europe and the US because of the M & A.

Priority of each bank is different. In case of similar priorities, not much effort will be required and the merger will be good. Cost savings being the common goal of two banks moving towards a merger, the first step they will take after the merger is to adopt the downsizing strategy and the second is cut down their costs. Before implementing the strategy the banks have to adopt a suitable policy to hold on to their best people. They should also agree on which area they should concentrate and how to retain the efficient staff in that specialized area. In 2004, the Bank of America acquired Fleer Boston Financial and spread across 5,700 retail branches serving 35 million customers in 29 states. In every US bank one out of every ten dollars deposited is from the Bank of America. Good aspect of bank mergers is that long-term prospects are positive for full-time equivalent positions. Expansion of employment and rise in real wages occurred because of two major integrations, i.e., brokerage houses and trust companies within the banking sector.

Banks should show confidence in its staff, keep them updated on the merger details before finalizing the deal. Otherwise, it has negative impact on the employees, such as low productivity during the transition period. The details about the merger must be informed to them before finalizing the deal. It will be a shock if employees hear it all of sudden and from other sources. The HR department should be realistic. Another risk is that some good and loyal people may leave during the transition because of culture change. Therefore, HR personnel have to play the catalyst role and provide some breathing space to employees to readjust themselves to the new work culture and perform better in a few months.

3.1 ***Role of HR:*** HR personnel play a vital role

before a banks' merger. Timely communication not only reduces attrition but also succeeds in retaining loyal and talented employees. The banks should address the concern of the affected employees to ensure that they are paid adequate compensation. Generally, branch consolidation takes about three years to make the transition smooth and manageable for both employees and customers. The banks merging have to take frequent feedback from both customers and employees to retain their confidence throughout the integration period. Meeting the employee of both banks and discussing the issues frankly helps in retaining the talented staff.

More than the protection of compensation and benefits, people looks forward to a respectful co-existences, challenging role and responsibilities, significant leadership and a hospitable work ambience, etc. Hence, integration of talents and compensation in the post merger period may not be a cause for much concern for the banks.

3.2 World-Wide Job Cuts on Mergers:

Mergers are 'invariably accompanied by announcement of job reductions, sometimes on a massive scale." The report cites, conservative estimates indicating that at least 130,000 finance jobs have disappeared in Western Europe as a result of mergers & acquisitions during the 1990s. Employment levels fell by about 5% in the United States during 1984- 1994 resulting from mergers. Chemical Bank - Chase Manhattan merger in 1995 triggered 12,000 job losses, while Bank of America acquisition by Nations Bank in 1998 included lay off 18,000 workers in 2002.

British banks "reduced their employees by 150,000 and shut a quarter of their total network of branches" between 1990 and 2000. The stronger employment protection laws and traditions in the countries of both France and Germany have helped to restrain job losses in both the countries. It is not out of place to mention the merger between BNP and Paribas, in connection with the fact that the combined bank would abolish 5,7000 posts, including some 3,600 in France.

In German, the unsuccessful merger between Duetsche and Dresdner banks would have caused 6,000 eliminations. In the Scandinavian countries the decline in bank personnel and branch between 1995 and 1999 averaged 30 percent, with a 50 percent fall for Finland. As against that, only 1,285 employees in Switzerland actually lost their jobs."

In Spain, the product of the merging of the country's first and third-ranked banks, BSCH "planned on eliminating about 4,500 jobs between 1999 and 2002", with the first stage of downsizing involving 2,400 voluntary redundancies negotiated with trade unions before the merger. In the Czech Republic, staff numbers in banks have fallen by 42 percent since 1995. A large bank merger in Australia led to a workforce reduction of 28 percent. Merger of two Thailand banks resulted in the 2/3rd lay off of the combined bank's workforce. Brazil has lost 79,000 jobs in banking and financial services during the last decade, while 22,000 jobs disappeared from the Argentine financial services between 1994 and 1999.The Japanese mergers are also expected to result in widespread redundancies, although the companies involved have pledge that cuts would be through attrition rather than lay-offs.

In India, during 2000-01, a large number of employees opted for VRS announced by the public sector banks. Ascertaining the precise number of job losses worldwide is complicated by the fact that official statistics on banking and financial service include an ever-increasing number of workers in a typical employment. Job losses are usually exacerbated by increased use of information and communications technology and outsourcing of functions previously performed by employees.

Human factor and its effective motivation in the framework of implementing mergers & acquisitions are crucial to the success or failure of every relevant undertaking. Hence human resources management is of the paramount need and personnel management with personal touch alone can pave the way. In view of the saturation on the domestic front, banks have to advance globally and capture the market share worldwide, which can be made through strategic alliances and joint ventures, "Sometimes the best strategy can be ruined by poor implementation." Thus, to prevent the impact of poor implementation, the merger strategy should be implemented in true spirit and letter.

4. CULTURAL SHIFT: Every bank has its own culture and some traditional activities. Some banks concentrate on regional-rural development, offering their lending products which will be different from those being offered by other banks concentrating on housing and personal loans. During the process of consolidation, one set of product or business activity of either of the merging banks will be carried out and the products of the other bank will be ignored and neglected. This leads to industrial unrest, deprivation, de-motivation and frustration among the employees. Such de-motivated human capital can never churn out good results. Consolidation needs not necessarily lead to instant favourable and positive results. It is an established

fact that there is an incubation period before the occurrence of eventual targets. Mergers also will bring about a change in the quality and mindset and attitude to work of the employees. The voluntary retirement or compulsory retirement in the process of mergers have in particular affected traditional branches and back office jobs. This type of work is mostly carried out by aged employees and women with traditional banking skills. This sensitive issue should be handled carefully and the policy makers have to take care of the turmoil in the process of consolidation and ensure that a strong banking system emerges eventually, characterized by a contented human force. More than any other root cause, cultural differences are blamed for consuming anticipated efficiencies, undermining prospect for value creation. At the same time, these cultural differences are systematically under-valued in pre-deal analysis.

Before a merger is carried out, cultural issues should be looked into. A bank based primarily out of North India might want to acquire a bank based primarily out of South India to increase its geographical presence, but their cultures might be very different. So, the integration process might become difficult. Even if there are synergies in technology, geographical presence and profile of assets, the birth of mega banks through mergers may not be of great use unless the mindset of public sector banks changes. A number of studies have measured the success of banking merger in terms of three important parameters.

- Profitability
- Cost Efficiency
- Market Power

The success of a merger hinges on how well the post-merged entity positions itself to achieve cost and profit efficiencies. It is difficult to rely on measures of economies and diseconomies of scale in banking, whereas cost and profit efficiencies are far more reliable and measurable indicators and create value. Mergers elsewhere in the world have helped reduce operating expenses by 0.5 percent (percent to total assets). That would translate into a few thousand crores of rupees for Indian PSU banks. One other way of measuring the success of the merger can be seen from analyzing the post merger performance to the stated goals before the merger. This way, one can see whether the banks were able to attain their stated objectives, which are important to realize the full synergies of the merger.

References

1- Ibid
2- Ramani V V, "Bank Mergers and Acquisitions The Human Factor", Bank Mergers: The Global Scenario, p.191, ICFAI (Hyderabad), 2006
3- Ibid, p.192
4- Ibid, p.193
5- Ibid p.231
6- International Labour Organization, The employment impact of mergers and acquisitions in the banking and financial services sector, p.33, Geneva, 2001
7- Ibid, p.39
8- Ibid, p.57

●●●●

*Research Scholar
Faculty of Commers, B.H.U., Varanasi

शोध-21

TESCO SUPERMARKETS V NATTRASS: AN OVERVIEW OF LIABILTY OF ENTERPRISE AND GUILTY EMPLOYEE

Anupam Mishra*

Introduction: *"It is the spirit and not the form of law that keeps the justice alive."*

LJ Earl Warren

There are two types of known corporate liability for crime i.e. vicarious and direct. Most of the people are actually familiar with these two kinds of corporate liabilities. The common perception says that the vicarious liability concept applies to strict liability offences whereas the direct type of offences requires a mental element. While dealing with these concepts very little attention has been given as to how both these concepts fit with the hybrid offences, which are quite common in consumer protection legislation. There have been two recent cases which have reduced some of the hindrances introduced by the decision of House of Lords in the case of **Tesco Supermarkets v Nattrass** in which direct liability principle was applied to hybrid offences. This rule has now been adopted for this type of offences as a result of cases like **Worwickshire County Council v Johnson** and **Tesco Stores Ltd. V Brent London Borough Council**.

Tesco Supermarkets v Nattrass: Background and analysis.

The present case was an appeal by Tesco Supermarkets Ltd against the order of the Divisional Court (**Lord Parker** CJ, **Cooke** and **Fisher** JJ) dated 15 July 1970, and reported [1970] 3 All ER 357, dismissing an appeal by way of case stated by the justices for the petty sessional division of Northwich against their adjudication as a magistrates' court sitting at Northwich on 3 February 1970 whereby they convicted the appellants of an offence contrary to s 11(2) of the Trade Descriptions Act 1968 on the hearing of an information preferred by the respondent, William Kenneth Nattrass. The facts are set out in the opinion of Lord Reid.

Andrew Rankin QC and **J P M Phillips** for the side of appellants.

E S Fay QC and **R M Yorke** for the respondent side.

The judges in this case were **Lord Reid, Lord Morris of Borth-Y-Gest, Viscount Dilhorne, Lord Pearson** and **Lord Diplock.**

Facts of the case-The appellants, a nationally known public company, owned several hundred supermarkets. At one of these supermarkets they displayed a large advertisement stating that Radiant washing powder was being sold at 2s 11d a packet instead of the normal price of 3s 11d. When such offers were made it was the appellants' practice to remove from the store all stock at the normal price. One evening an assistant discovered that none of the reduced-price packets of Radiant washing powder remained on display. She therefore put out on display packets marked at the normal price of 3s 11d. She did not report this to C, the manager of the store. The advertisement, however, remained in the window. C did not himself check the stock of Radiant washing powder, but there was an entry in his weights and measures book for the following day stating: 'All special offers OK'. On that day a customer, having seen the advertisement, tried to find a packet at the reduced price but failed to do so. On being informed that there were no packets in stock for sale at 2s 11d, he took an ordinary packet and was charged the higher price. An information was preferred against the appellants that they had given an indication by means of the poster that the goods were offered at a price less than that at which they were in fact offered, contrary to **Section 11(2)** of the **Trade Descriptions Act, 1968**.

Judgement- The following judgement was given by **House of Lords** on an appeal made to it. It said-

(1) In the case of a large-scale business, the owner, whether a natural person or a limited company, could not personally supervise the activities of all his servants which might lead to the commission of an offence under the 1968 Act.

(2) It followed therefore that since C, as one of several hundred managers of the appellants' supermarkets, could not be identified with the company and since on the facts the appellants had devised a proper system for the store and done all they could to see that the system was implemented, they were able to invoke the defence under **Section 24(1)** of the 1968, Act on the grounds that they had taken all reasonable precautions and exercised all due diligence to avoid the commission of the offence which was due to the act or default of 'another person', i.e. C, in his failure to exercise his supervisory function properly.

Their Lordships in *Tesco Supermarkets*' case followed the principle laid down in *Beckett v Kingston Bros. Ltd.* where in the ruling they said that the manager could be another person for the purposes of **Section 24(1) (a)**, where the act or the default of his upon which it is sought to rely is something actually done by him. In order to succeed

that defence, however the appellant had to further establish that he had complied with **Section 24 (1)(b)** by showing "*...that he took all reasonable precautions and exercised all due diligence to avoid commission of such an offence by himself or any other person under his control.*" The court in this regard was of the opinion that the taking of precautions, and the exercise of diligence, by the defendant corporation, involved two things; first the setting up of an efficient system for the avoidance of offences under the Act, and, secondly, the proper operation of the system.

The question that the court had to decide was whether a company could be said to satisfy the said requirements or not. It was to be seen if it had set up an efficient system, or whether it was deprived of the defence if it were shown that there had been failure by someone to whom the duty of carrying out some part of the system has been delegated. In Tesco's case, the court considered that under the ***Trade Descriptions Act***, as under the Road Traffic Act, the offence created was an absolute one and the reasoning in *Series v Poole* applied. Tesco's manager was a person to whom the appellant company had delegated their duty to take all reasonable precautions and exercise all due diligence to avoid the commission of an offence under the Act, and if the manager had failed to properly carry out that duty, then the appellants were unable to show that they had satisfied **Section 24(1)(b)**.

The court therefore concluded that although the reasons which the magistrates gave for their decision (namely that the manager could not be "another person" for the purposes of **Section 24 (1)(a)** of the Act) were wrong in law, their finding that the company remained liable for the failure of their manager was correct; because if their minds had been directed to Section 24(1)(b), they would have inevitably found the appellants have not satisfied the requirements of that paragraph. However, in *R.C. Hammett Ltd. v L.C.C.*, the Divisional court held that the defendant enterprise was liable for the failure of its branch manager to secure the observance of the system by a scales man under him.The decision in Tesco Supermarkets case was quite influenced by *alter ego* argument. It actually allowed Tesco to disown its manager. Therefore, in order to bring in the defence of due diligence into effect, there was an acceptance that the manager's act were those of the company. The Supreme court of Canada in the leading case of Canadian *Dredge & Dock* held that "**the corporate vehicle now occupies such a large portion of the industrial, commercial and sociological sectors that amenability of the corporation to our criminal law is as essential in the case of corporation as in the case of the natural person.**"

Developments after the Tesco Supermarkets case regarding the Corporate Liability

➢ TESCO STORES V BRENT

The whole concept has been further explained in the case of **Tesco Stores Ltd. V Brent London Borough Council.** If Tesco is deliberately litigious or unlucky is difficult to say, but it was again on the appellant side in one of the cases discussed here. Tesco Stores Ltd. did the offence of providing a video recording with an '18' classification certificate to a person who was under that age, which was contrary to the **Video Recordings Act 1984**, section 11. A 14-year-old boy was sent by Brent's trading standards officer into one of the appellants' stores and was sold an '18+' video. Under **section 11(2)(b)** of the impugned Act, it is a defense that the accused neither had the knowledge nor had the reasonable grounds to believe that the buyer was under 18. The question that came before the court was as to whether the appellant company Tesco would take this defence. It was accepted that the appellant's employee at the door did indeed had reasonable grounds to believe that the buyer was under 18, and thus the conviction would stand, unless and until the statute were interpreted in such a manner so as to require the company itself to have such type of knowledge or reasonable grounds. Staughton LJ in this case sidestepped the effect of the historical inabilties and interpretive complexities in Tesco v Nattrass by taking an uncomplicated interpretation of **Section 11** in the *Video Recordings Act*. His task was made easier by the different wordings with its core emphasis on knowledge of a particular circumstance rather than diligence in avoiding a result. Tesco Supermarkets' case suggests that only the company's senior officers can act as the company and therefore, in Tesco's case the appellants argued that it would be their knowledge which was relevant in the existing cause. In rejecting this argument, *Staughton LJ* pointed out that it was totally absurd to suggest that the directors of the company would indeed have a belief or knowledge of the purchaser's age. If the appellants' argument would succeed, it would mean that no company could ever commit this type of offence. In holding this kind of proposition, he accepted this view that by implication that when the company has committed this offence it has done so vicariously and not by the alter ego doctrine. It is quite interesting to compare this case, where the company was convicted, with the House of Lords' decision in *Warwickshire v Johnson*. Here in this case the manager of a Dixons store was convicted for

a breach of the provision ofConsumer Protection Act 1987. His conviction was quashed subsequently after the interpretation of the Act in which assistance was sought from Hansard, under their Lordships' newly self-granted licence.

CORPORATE LIABILITY: An explanation from the perspective of Tesco Supermarkets case and foreign courts.

To the importance of the answer of this question the importance of regulatory legislation other than consumer protection is to be looker upon. The defences similar to **Section 24** are now widespread. The **identification doctrine** has been propounded by Canadian Supreme court in the case of *Canadian Dredge and Dock*. The following characteristics were given regarding the identification theory by the Canadian Supreme court-

1) It is a court adopted, pragamatic but fictional approach used to attribute a human element to an equally abstract entity called a corporation, for the purpose of including corporations within the control of the criminal law in much the same way as the natural persons are.

2) If a corporate employee is in the court's assessment virtually directing mind and will of the corporation in the sphere of duty and responsibility assigned to the employee by the corporation, then the employee's action and intent are the action and intent of the company itself, provided the employee is acting within the scope of his/her authority either express or implied.

3) The essence of the test is that the identity of the directing mind and the company coincide when the directing mind is acting within his/her assigned field of corporate operations. That field of operations may be geographic, or functional, or it may embrace the corporation's entire operations.

4) Although the directing mind and the corporation merge as one for the purposes of allowing the corporation to be convicted of an offence, both the directing mind and the corporation can each be prosecuted, convicted and punished for an offence.

Criticisms of Identification Doctrine:

➢ **THE FALLACY OF IDENTIFICATION:**

The identification doctrine is used to attribute criminal responsibility to collective entities. These entities function by group effort not by individual effort, yet the identification theory seems to assume that responsibility for the behaviour of the collectivity can be assigned by looking at the behaviour between key individuals of the group. Another weakness in the use of the identification theory for establishing criminal corporate liability the potential difficulty of taking notions of fault which are designed for human behaviour and applying them to a non-human entity with its own unique structure and modes of functioning. This and other inherent weaknesses in the identification theory have encouraged theorists such as Fisse and Wells to create a separate theory or doctrine of genuine corporate fault. The courts should accept aggregation. It has been genuinely accepted in United States courts. The accused conduct does not have to be the sole cause or the primary cause; it need only be a contributing cause which is beyond *de minimus* range.

Conclusion: *Tesco Supermarkets* case as we know is the leading case on Trade Descriptions Act, 1968.The concept of "directing mind" theory evolved only after this case, which further developed in *Tesco Stores* case etc. The principle evolved in Tesco's case limits the responsibility of a company to the fault and conduct of the board of directors, the managing director, or another person to whom a function of the board has been fully delegated.

The leading judgements in *Tesco* suggest that the principle does not extend to managers exercising substantial managerial functions provided that the board of directors has been sufficiently astute to retain a formal right of veto or intervention. If so, the principle greatly restricts the scope of corporate criminal liability, and opens up obvious opportunities for corporate evasion. Not surprisingly, the principle has often been watered down to cover middle managers in the absence of any finding that they have been delegated an unfettered power by the board. This dilution of the *Tesco* principle *is* readily understandable but no clear criteria have emerged for deciding whether a representative of the company has the requisite corporate manna.

As has been said by **Lord Haldane** in a well-known passage- *"A corporation is an abstraction. It has no mind of its own any more than it has a body of its own; its acting and directing will must, consequently, be sought in the person of somebody who for some purpose may be called an agent, but who is really the directing mind and the will of the corporation. That person may be under the directin of shareholders in general meeting; somebody who is not merely a servant or agent for whose action the company is liable upon the footing respondeat superior, but somebody for whom the company is liable because his action is the very action of the company itself."*

References

[1972]AC 153

[1993] 1 All ER 299. The Divisional court was noted by Peter Cartwright, (1993) 56 MLR 227

[1993] 2 All ER 718 (QBD,DC). See also the discussion

of Seaboard Offshore Ltd. V Secretary of State [1994] 2 All ER 99 [HL], text below accompanying n 28.

[1970] 2 W.L.R. 558. This view has been taken in R.C Hammett Ltd. v Crabbe and R.C Hammett Ltd. v Beldam, 95 J.P. Rep. 180.

[1969] 1 QB 676

(1933) 97 J.P.Rep. 105, concerning a violation of the Sale of Goods (Weights and Measures) Act, 1926

The magistrates had found that there was due diligence by the company but that the manager was not 'another person'; the Divisional Court thought he was 'another person' but that there was no due diligence.

Canadian Dredge & Dock Co. Ltd. v The Queen (1985), 19 C.C.C. (3d) 1 S.C.C.; *Wells*, note 14 at 116-120

[1993] 2 All ER 718 (QBD,DC)

Which replaces the misleading price offence contained in s 11 of the Trade Descriptions Act, for which Tesco were prosecuted in 1972..

Pepper v Hart [1993] 1 All ER 42.

Eg. Weights and Measures Act 1963, s. 27; Food and Drugs Act 1955, s. 113; Road Traffic Act 1962, s. 20; Factories Act 1961, s.161

R v St. Lawrence & Corp. Ltd. [1969] 3 C.C.C. 263 (Ont. C.A.)

R Vv Huggins (1730), 92 E.R. 918

United States v Bank of New England, 821 F. 2d 844 (1st Cir. C.A.), cert. denied, 484 U.S. 943 (1987)

R v Smithers (1977), 34 C.C.C. (2d) 427 (S.C.C.)

Reaffirmed by the House of Lords in Tesco Supermarkets Ltd. v Nattrass, [1971] 2 All ER 127: 1972 AC 153.

●●●●

*Student 4th year,
Gujarat National Law University, Gandhinagar

☞ शोधार्थियों से निवेदन है कि शोध-आलेख अधिकतम् 2000 शब्दों का ही भेजें, जो कि हिन्दी फान्ट **Kruti Dev- 010** अथवा अंग्रेजी फान्ट **Times New Roman** में टाइप करें।

☞ शोध-आलेख की प्रिंट कापी तथा सी.डी. दोनों रूप के साथ अपना फोटोग्राफ भी अवश्य भेजें।

☞ शोध-आलेख प्रकाशन हेतु पत्रिका की आजीवन सदस्यता आवश्यक है।

शोध-22

READING DIFFICULTIES IN ENGLISH IN RELATION TO SCHOOL AND PARENTAL EDUCATION

Shikha Tiwari*

Language is the only means which enables human beings to express themselves, to share themselves with their near and dear ones. It is also the only factor which demarcates them from animals. Development of any language much depends on the environment, to be more precise, on the family. Development of any language involves mastering of four fundamental skills i.e., understanding, speaking, reading and writing. Of these four, reading is dealt in detail in the present study and how it is influenced by education of the parents.

A child on his birth is barely able to make certain sounds. As time passes, those sounds slowly and gradually transform into words. Those words become speech and help her/him to experience and learn everything she/he comes in contact with. Speech turns into language and enhances her/his interaction with the world. Dean (1973) writes, "language is the response to experience and rich experience is essential for language development.

Man, a social being, requires language to meet his social needs. Language is the only medium through which accumulated and required knowledge is transmitted to the next generation in written or spoken form. Language is needed to learn, to retain and to recall knowledge.Language is not only means to express our inner thoughts and ideas. More than that man actually thinks by means of language. Language learning consists of certain skills. There are four fundamental skills that are basic to a language. According to Chaudhary (2003), the four skills are: understanding, speaking, reading and writing. Out of these, reading is dealt with, as it is a part of the study.

LANGUAGE AND PARENTAL EDUCATION- The informal education of the child begins at home. The family lays down the foundation stone of socialization of the child. In this process, the Child acquires the language of the family. His language is mostly influenced by the mode and style of conversation the elderly members of the family, especially of the parents. Child develops the knowledge of language by hearing to his parents and especially to his mother. The language of educated parents is certainly polished. Children from these parents acquire a better knowledge of language and thus find less difficulty in learning the same due to better exposure, which smoothens their entry into the schools and helps to progress in the coming life.

LEARNING DIFFICULTY IN ENGLISH- English is a language full of irregularities, so reading and writing English for those with learning difficulty and who are non-native English speakers becomes more difficult. Researchers in the last two decades have established the linguistic/met linguistic progressing problem that includes reading, writing, listening and speaking (karath, 2000,p-19). In the present study only reading and writing difficulties are considered.

Nanda (1982)found significant causes thwarting comprehension of pupils included lack of knowledge in structural usage and vocabulary items taught in the previous classes, lack of stronger foundations in elementary reading, distraction and careless reading, absence of reading readiness, lack of reading practice, negative attitude to reading, skipping over the key words, reading by letters and words and not the sentences as a whole, lack of proper guidance, socio-economic condition of both teachers and pupils, lack of study atmosphere, lack of effective supervision and administrative control and poor financial condition of schools. It also included lack of semantic knowledge, expression, knowledge of word usage, phrases and grammar and careless and hurried reading.

Joshi (1984) studied to find out the factors which influence the growth of English language abilities, the common errors committed in translation, grammar, language usage and spelling by eighth graders belonging to varying SES and institutional administration. He came with the result that the growth of English language abilities was found to be maximum among missionary schools followed by private schools and state government school. The growth of English language abilities was found to be influenced by such factors as caste, intelligence, SES, locality, administrative control of an institution and personality factors.

Jayashree(1989) attempted to identify the difficulties in teaching-learning English as a SL among the high school students. She concluded that children had improper listening nature and were inattentive in the class, students did not show any interest in learning English, eliciting responses from students took too much time, their vocabulary was very poor and there understanding capacity and participation in the English class was not good.

READING DIFFICULTY- Reading is a process of recognizing and understanding words as well as ideas (Ekwall 1976 p-51). Research of Aaron et al

(1999) indicates that the two components underline the reading process namely decoding and comprehension.

Decoding refers to the ability to pronounce the written word. According to Shastri (2002), overt (grammatical errors) error, covert (grammatically correct but contextually inappropriate) error, omission, addition, selection and ordering are errors of reading difficulty.

OBJECTIVE OF THE STUDY-To study the relation of reading difficulty in English with Parental education

THE METHOD- The study adopted the survey method to collect the data relevant for achieving the objectives of this study. The descriptive approach was adopted for interpreting the identified learning difficulties of the students.Students of classIX studying in schools affiliated to CBSE Board during the academic session 2005-06 in Ballia city constituted the population of the study.A sample of 60 students was selected by the purposive sampling technique. The students belonged to class IX of kendriya vidyalaya and sunflower school of Ballia city.

DIAGNOSTIC MATERIAL FOR READING DIFFICULTY- Since reading ability consists of two major components i.e word recognition & comprehension, the difficulty assessment requires studies of these two specifically. According to Aaron (1999) "word recognition and comprehension are the two most important components of the reading process". In this context Siegel (1999) also observes "diagnostic material should include measure of word recognition skill and a test of comprehension". Accordingly diagnostic material for reading was prepared for this study.

RECORDING AND ANALYSIS OF READING PERFORMANCE: - Each subject was told that a sound recording would be done of a text, which they will be asked to read loudly to study the mistakes they commit in reading the text. To analyze the error patterns, types of mispronunciation were analyzed from their oral performances. The committed errors were noted in terms of the frequency of their occurrence.

Table-1 deals with the states of parental education & the type of reading error that have been committed. We find a gradual increase in the accuracy of children from 95 to 111 with the increase in mother's education. Though the highest accuracy is found in the case of mother's with the intermediate level of schooling. We also see a gradual increase in the comprehension from 2 to 5. The reading rate shows that the children of the pg mothers are most efficient with the reading rate 47 seconds followed by children of mothers with intermediate education. Cross & partial mispronunciation is found highest in the case of children with uneducated mothers & the lowest in the case of PG mothers with gross mispronunciation at 0.Coming to fathers education similar trend as of mothers was found incase of accuracy, comprehension and reading rate. Partial & Gross mispronunciation is found highest in the case

PARENTAL EDUCATION & READING ERRORS IN GOVERNMENT AND PRIVATE SCHOOLS

Table-1

	ERRORS → P.EDN ↓	ACCURACY		COMPREHENSION		READING RATE		P. MISPRONUNCIATION		G. MISPRONUNCIATION	
		Govt.	Pri.	Govt.	Pri.	Govt.	Pri.	Govt.	Pri.	Govt.	Pri.
MOTHER	I	95	93.3	2.0	2.9	56.00Sec.	59.16 sec	88%	92%	96%	43%
	II	133	99.45	4.9	4.3	43.08Sec.	50.27sec	09%	25%	13%	45%
	III	100	109.8	4.8	7.8	55.30Sec.	47.63Sec	15%	21%	56%	15%
	IV	111	113.0	5.0	6.0	47.00Sec.	45.00sec	10%	20%	0%	10%
FATHER	I	90	106	1.0	3.5	59.00Sec.	51.28Sec	11%	57%	15%	42%
	II	101.1	103	4.0	2.8	51.80Sec.	49.57Sec	71%	63%	08%	44%
	III	100.2	110.7	4.1	6.1	57.00Sec.	49.44Sec	82%	27%	74%	30%
	IV	103.7	74.71	4.5	4.5	51.75Sec.	46.57Sec	67.5%	67%	56%	21%

of graduate fathers and least in the case of uneducated & intermediate fathers respectively.

Table 1 also shows the status of parental education and the type of reading errors that have been committed by the private school students. In the case of accuracy and mother's education, there is gradual increase with the mother's education. Children of graduate mother's have highest comprehension with the lowest of uneducated mother's. Reading rate has gradually decreased from uneducated to PG mother, the most efficient with reading rate of 45.00 seconds. Both the mispronunciation gradually decreases towards the PG mothers. The accuracy (110.7) is highest in case of graduate father and lowest of (74.71) in the case of postgraduate father. Comprehension is highest for the children of graduate fathers. Reading rate shows gradual efficiency with the father's education. Partial mispronunciation is highest with postgraduate fathers. Gross mispronunciation shows decrease with increase in parents education.

SUMMARY WITH FINDINGS-The study was conducted to identify the learning difficulties of the grade IX children studying in two different types of schools in Ballia city in the purvanchal region. A diagnostic tool to identify the reading and writing difficulties was administered upon 60 students of grade IX selected purposively from two different types of schools in Ballia city. Their difficulties in the reading and writing of these students were analyzed in terms of percentage of errors. The major findings in terms of overall errors that are committed most frequently by the children in this study are: -

The result obtained in learning difficulty in relation to

#MOTHER'S EDUCATION- Accuracy, comprehension has gradually increased. Reading rate, Partial Mispronunciation and gross mispronunciation have gradually decreased. But an exception was seen in the accuracy of children of Intermediate mothers with accuracy of 133.

FATHER'S EDUCATION There is also gradual increase in comprehension and accuracy and a decrease in the reading rate with the increase in father's education.

CONCLUSION:-A scrutiny of table 1, reveals that some exceptions like higher accuracy for intermediate mothers compared to those of graduate and PG mothers, a very high comprehension and less omission of the children of graduate mothers. No omission by the children of graduate fathers, better composition by those having graduate fathers may be because of higher IQ. A very bright lot of students may be in that sample, which is not being considered in this particular study and is a limitation in itself.At the same time less achievement in accuracy and comprehension, a fall even lower than that of uneducated father's, higher % of substitution and omission error by those of intermediate mothers and graduate and PG fathers may be due to the poor intelligence of the group, lack of concentration, lower level of aspirations and low capability, and may not be interested in the paragraph.

On the whole, it can be concluded that though we see a positive effect of parental education and the children committing lesser and lesser errors but there are always exceptional groups which indicates that particular group may be living in a linguistically deprived environment, In joint families where none others are educated except for the parents and are certainly effected by other members of the family, Low IQ and also there may be negative feeling for the school, teacher and the subject.

Language is a matter of habit. For the majority of the students English is a foreign language. It is not their mother tongue and so they do not speak it or hear it regularly in their day-to-day living. They are subjected to what Hurlock (1964) has termed as "linguistically deprived environment" as for as the language is concerned. For all these reasons, regardless of their school type, parental education and sex, they have committed the same type of linguistic errors and to an almost equal degree.

Reference:

1. Choudhary Namita (2002) English language learning. Himalaya Publishing House, New Delhi.
2. Jayshree S. (1989) Identification of the difficulties in teaching & Learning English as a secondary language among the high school students, In MB Buch (ed) V survey of educational research vol.2, New Delhi.
3. Nakara, Onita(1996) Children and learning difficulties, Allied publishers limited, New Delhi.
4. Rai Anuradha (2005) Identification and remediation of learning disabilities in English among junior High School Students,Thesis, BHU.
5. Sharma, R.A.(1994) Fundamentals of English teaching.Shatiya Prakashan,Agra.
6. Shivpuri Vijaya (1982) An Investigation into pupils comprehension of English.Thesis, BHU.
7. Tiwari Shikha (2006).Learning difficulties in English in relation to school and parental education. An Unpublished Dissertation, B.H.U.
8. Upadhyay Chitra(1998).A study into the English Profeciency level of Prospective English Teachers.A Dissertation,BHU.

●●●●

*Research Scholar,
Banasthali University

इतिहास के पुनरावलोकन की आवश्यकता : प्रो. केडिया

विवेकानन्द तिवारी

''भारत के स्वर्णिम काल के पुनरावलोकन की आवश्यकता है तथा इसके इतिहास को सही ढंग से प्रस्तुत करना वर्तमान समाज में प्रासंगिक है।'' उक्त बातें गाँधी विद्या संस्थान की निदेशिका प्रो0 कुसुम लता केडिया ने लंका स्थित प्रोजेक्टीज संस्थान में मंगलवार को ''हिन्द स्वराज की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि'' नामक व्याख्यान में बोलते हुए कहीं।

प्रो0 केडिया ने कहा कि शिक्षाविदों ने समाज में भारत के स्वर्णिम काल को सही ढंग से प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने ये कहा कि स्वर्णिम काल की जो छवि दिखाई जा रही है उसमें हमें कमजोर रूप में प्रदर्शित किया जा रहा है। जबकि वास्तविकता यह है कि हम ऐतिहासिक काल से ही सशक्त रहे हैं। उन्होंने कहा कि इतिहास में सबसे सशक्त हम रहें हैं और हिन्द स्वराज देश की पौरूष को जगाने के लिए एक युवा का संकल्प है। प्रो0 केडिया ने कहा कि आज का युवा यही सोचने में परेशान रहता है कि हम पराधीन क्यों हुए कैसे हुए, मगर असलियत यह है कि हम कभी पराधीन हुए ही नहीं। प्रो0 केडिया जी का कहना है कि यदि हम लोंगो को ये पता चल जाये कि हम लोग इतने सशक्त हैं कि किसी को उँगली से स्पर्श करे तो वो जल जायेगा तो हम लोग और अधिक से अधिक सशक्त हो जायेंगे।

परन्तु इतिहासविदों एवं शिक्षा विद् द्वारा यह बताया जा रहा है कि यदि हम लोगो को कोई छू दे तो हम लोग जल जायेंगे, जिससे कि हम लोग हमेशा डरे रहें। उन्होंने कहा, गाँधी जी ने कहीं ये नहीं कहा कि यदि हमारे

एक गाल पर कोई थप्पड़ मारे तो हमें अपना दूसरा गाल आगे कर देना चाहिए। इस बारे में समाज में शिक्षा मंत्रालय के द्वारा गलत तरीके से व्यक्त किया जा रहा है। अध्यक्षीय भाषण बृजेश सिंह ने दिया। स्वागत भाषण देते हुए प्रोजेक्टीज संस्थान के अध्यक्ष जगन्नाथ ओझा ने युवाओं में गाँधी जी के प्रति गलत विचारों को मिटाने की बात कहीं। संस्थान के सचिव विशाल जायसवाल ने धन्यवाद ज्ञापित किया। व्याख्यान माला के दौरान प्रो0 केडिया जी ने छात्रो के कई सवालो के भी जवाब दिये। सभा में प्रमुख रूप से शिवेन्द्र जी, संजय शुक्ला, कपीन्द्र तिवारी, संतोष बिहारी लाल, वी0के यादव, अजीत मिश्रा, रविशंकर, विक्रान्त राय, राजेश सिंह, प्रियान्शु दूबे, मृत्युंजय, जयेन्द्र, संजय, सुमित इत्यादि लोग उपस्थित थे।

परमिता

लेखकों से–

- 'परमिता' के लिए आपके विचार, सुझाव एवं लेख सादर आमंत्रित हैं। यह आपकी अपनी पत्रिका है अतः औपचारिक निमंत्रण की प्रतीक्षा न करें।
- 'परमिता' नये–नये विषयों, विमर्शों एवं मूल्यों के साथ ही नये एवं कम चर्चित लेखकों के प्रति संवेदनशील है। यह उनका अपना सशक्त मंच सिद्ध हो इसलिए इसमें सहभागी होना ही चाहिए।
- रचनाएँ कागज पर एक तरफ लिखी हुई या टाइप की हुई हों।
- शोध–लेख को कृपया संदर्भों के साथ भेजें तथा उसकी एक प्रति C.D. रूप में भी भेजने का कष्ट करें।
- रचना की मूलप्रति ही भेजें। फोटो स्टेट या कार्बन कापी पर विचार कर पाना संभव नहीं होगा।
- रचना के साथ अपना संक्षिप्त परिचय एवं फोटोग्राफ भी भेजें।
- रचनाएँ मौलिक और अप्रकाशित हों, यदि आपकी भेजी रचना कहीं स्वीकृत हो गयी हो तो कृपया सूचना देवें।
- यदि आप अप्रकाशन की स्थिति में अपनी रचना वापस चाहते हैं तो, रचना के साथ पता लिखा और टिकट लगा लिफाफा भेजें ।
- 'पुस्तक समीक्षा' के लिए पुस्तक की दो प्रतियाँ भेजें।

संपादकीय संपर्क:

N-1/61 R-1, शशिनगर कालोनी, सामनेघाट रोड
नगवाँ, लंका, वाराणसी (उ0प्र0) 221005

विदग्ध गोष्ठी-2

चीनी घुसपैठ : भारतीय सम्प्रभुता के लिए खतरा

डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी शोध संस्थान द्वारा आयोजित संगोष्ठी

अमरजीत सिंह

भारत सरकार और रक्षा प्राधिकारियों द्वारा की जा रही उपेक्षा चीनियों को भारतीय सीमा में घुसपैठ करने को बढ़ावा दे रही है। चीनी सेनाओं यहाँ तक कि हेलिकाप्टरों द्वारा भारतीय सीमा में घुसपैठ करने पर टिप्पणी करते हुये प्रो. पी. स्टोब्डन, रक्षा एंव रणनीति विश्लेषण संस्थान (आईडीएसए) ने कहा– ''यह आश्चर्यजनक है कि जब एक मुख्यमंत्री गुम हो जाता है तो पूरी राज्यसरकार, भारतीय वायुसेना, भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संस्थान (इसरो), भारतीय मौसम विज्ञान संस्थान (आईएमडी) आदि उसे खोजने लग जाते हैं, लेकिन जब एक चीनी हेलिकाप्टर हमारी सीमा में घुस आता है तब कोई उपग्रह–चित्र नहीं लिये जाते। प्रोफेसर 'भारत–चीनी सीमा विवाद' : वर्तमान परिस्थिति'' पर नई दिल्ली में आयोजित संगोष्ठी में बोल रहे थे।

प्रो. स्टोब्डन ने मीडिया द्वारा इस मामले की रिपोर्टिंग की समीक्षा करते हुये कहा कि मीडिया के जो हालात है उसके केवल पाँच प्रतिशत के बारे में जानकारी है। राज्यसभा सांसद बलबीर पुंज ने बहस को आगे बढ़ाते हुये कहा– ''हम इन दिनों अपने प्रशासकों द्वारा जिस प्रकार के व्यक्त्य सुन रहे हैं कि सब कुछ ठीक है, भयग्रस्त न हों, चीनियों को आसुरी शक्ति के रूप में न रखें, ठीक उसी प्रकार के हैं जैसे पं0 जवाहर लाल नेहरु और वी.के मेनन द्वारा 1962 युद्ध के ठीक पहले दिये जा रहे थे। उस समय जनसंघ के लोगों को युद्धाग्रही बताया जा रहा था।'' राम माधव इस मत से सहमत थे, उन्होंने कहा– ''भारत–चीन सीमा विवाद पर कोई बहस यहाँ तक कि बातचीत करते समय भी हमें तिब्बत और तिब्बतियों की स्थिति को ध्यान में

रखना होगा। इस सन्दर्भ में लोगों के हित का ध्यान रखना होगा''।

डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी शोध संस्थान द्वारा आयोजित इस बहस में कई राजनीतिक और अकादमिक हस्तियों ने भाग लिया– जिनमे प्रमुख रूप से– मोहन गुरुस्वामी (सेन्टर फॉर पॉलिसी ऑल्टरनेटिव के चेयरमैन), प्रो. श्रीकान्त कोन्दापल्ली (जवाहर लाल नेहरू वि0वि0 के चीनी अध्ययन संस्थान के प्रोफेसर), तापिर गाओ– (अरुणाचल प्रदेश के चीनी पर्यवेक्षण अध्येता), ले. जनरल (से0नि0) शंकर प्रसाद, वरिष्ठ स्तंभकार व राज्यसभा सांसद बलबीर पुंज, आरएसएस के राष्ट्रीय कार्यपरिषद के सदस्य राम माधव, तरुण विजय, इन्डो–चाइना महत्त्वपूर्ण व्यक्ति समूह के पूर्व सदस्य, बाल आप्टे श्यामा प्रसाद मुखर्जी फाउंडेशन के अध्यक्ष व भाजपा के दिल्ली अध्यक्ष डॉ. हर्षवर्धन आदि उपस्थित रहे।

समाज के ज्ञान–चक्षु खोलने में समर्थ : सुमंगलम् प्रभा (त्रैमासिक पत्रिका)

लोकमंगल के लिए प्रकाशित त्रैमासिक पत्रिका ''सुमंगलम् प्रभा'' का पृथ्वी अंक धरती और उससे जुडे अनेक आयामों को समर्पित है। पंच तत्वों में पृथ्वी तत्व का अपना महत्व है और उसी महत्व को रेखांकित करती हुई यह पत्रिका डॉ0 विद्या निवास मिश्र, कुप0 सी0 सुदर्शन, हृदयनारायण दीक्षित, मेनका गांधी, बजरंग लाल गुप्त, लल्लन प्रसाद व्यास, काका कालेलकर, ओम प्रकाश पाण्डेय, सहित 27 नक्षत्रों की लेखमाला से सज्जित तथा कतिपय संकलित तारकों से सुसज्जित है। यह अंक पृथ्वी की उत्पत्ति से लेकर उसके विकास और वर्तमान में जलवायु परिवर्तन के कारण, सन्निकट विनाश की ओर इंगित करता हुआ धरती–सन्तानों के मंगलाभियानों को उद्घाटित, प्रकाशित कर सृष्टि और ब्रह्माण्ड की उलझी पहेलियों को सुलझाने के प्रयास की दिशा में अग्रसर होता प्रतीत होता है।

यह पत्रिका कोपेनहेगन सम्मेलन के समय धरती बचाने के अभियान को समर्पित है। इसमें ज्ञानवर्द्धक प्रभूत सामग्री है, जिसमें समाज के ज्ञानचक्षु खोलने, उसे हिताहित से अवगत कराने, करणीय और अकरणीय पर प्रकाश डालने, घर–परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के मंगलाभियान की मन्त्रध्वनि गुंजित है।

आशा और विश्वास है कि यह प्रकल्प अपने शीर्ष आयामों को छूता हुआ आनेवाले समय में लोकमंगल तथा वसुधैव कुटुम्बकम् का आदर्श प्रस्तुत करने में सफल सिद्ध होगा।

रामनारायण त्रिपाठी ''पर्यटक''

विद्‌ग्ध गोष्ठी-3

'राष्ट्रोत्थान और पुरबिया एकता' विषयक गोष्ठी का आयोजन

अभिनव पाण्डेय

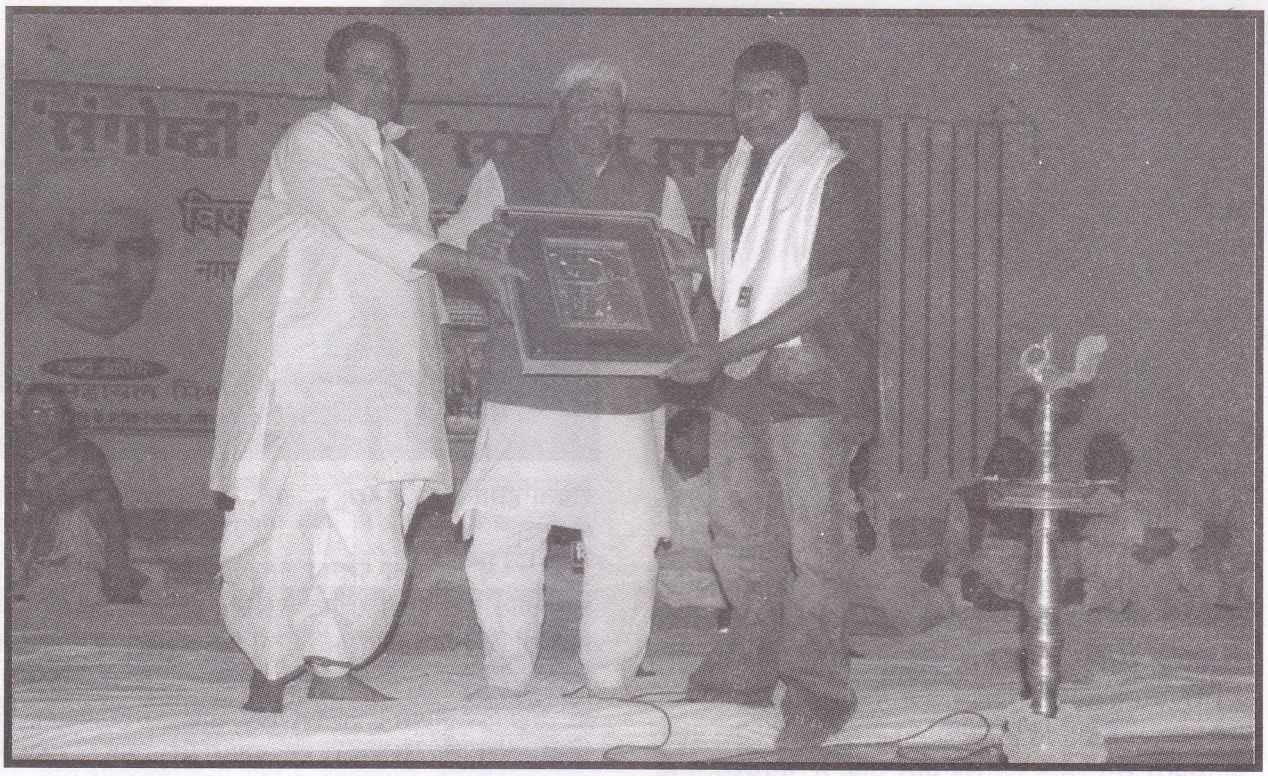

विशिष्ट सेवा के लिए 'पुरबिया गौरव सम्मान' प्रदान करते सांसद मा. महाबल मिश्र

1 नवम्बर 2009 को वाराणसी के नगर निगम के प्रेक्षागृह में 'पुरबिया एकता मंच' की तरफ से ''राष्ट्रोत्थान एवं पुरबिया एकता'' विषय पर एक संगोष्ठी का आयोजन किया गया। संगोष्ठी में बतौर मुख्य अतिथि 'पुरबिया' के प्रबल पक्षधर एवं पश्चिमी दिल्ली के सांसद मा. महाबल मिश्रा ने कहा कि ''पुरबिया'' लोग पूरे देश भर में अपनी मेहनत, प्रतिभा, संघर्ष एवं समाज में सकारात्मक परिवर्तनों के पहल के लिए अपनी अलग पहचान रखते हैं। किसी भी क्षेत्र में यदि शीर्षस्थ प्रमुख लोगों कि गिनती की जाये तो उसमें सर्वाधिक लोग यहीं के होंगे। यही कारण है कि स्वतंत्रता संग्राम का कालखण्ड हो अथवा स्वतंत्र भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था में आमजन के अधिकारों की लड़ाई हो, सभी क्षेत्रों में पुरबिया नेतृत्व की अगली पंक्ति में खड़े दिखायी देते हैं।''

सांसद महाबल मिश्रा ने 'पुरबिया एकता मंच' के आयोजकों को संगठन के द्वारा भोजपुरी और सांस्कृतिक क्षेत्र में किये जा रहे सार्थक प्रयासों की सराहना करते हुए कहा कि ''आज पूरे समाज में जहाँ सफलता के लिए अंधी दौड़ लगायी जा रही है वहीं पर अपनी माटी और अपनी भोजपुरी संस्कृति को लेकर 'सार्थक अभियान' चलाया जाना प्रशंसनीय है।'' उन्होंने आगे कहा कि पुरबिया बँटे हुए हैं, उन्हें सफलता के लिए मेढक की मानसिकता से मुक्ति पाकर चींटी की मानसिकता अपनानी होगी तथा जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद से ऊपर उठकर राष्ट्रनिर्माण के लिए तैयार होना पड़ेगा; तभी समाज में बड़ा परिवर्तन कर पाना संभव है।'' उन्होंने कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे भोजपुरी के प्रसिद्ध कवि रामजियावन दास 'बावला' को सरस्वती पुत्र की उपाधि प्रदान की। साथ ही दिल्ली की मुख्यमंत्री के हाथों सम्मानित कराने की बात कह उन्हें राजधानी आमंत्रित किया। कार्यक्रम में विभिन्न क्षेत्र में विशिष्ट सेवा के लिए मंच की ओर से तबलावादक पूरण महाराज, शैलेंद्र पाण्डेय (समाज सेवा के क्षेत्र में) इण्डिया टुडे के फोटोग्राफर रवि कुमार, आईएमए वाराणसी के सचिव डॉ. संजय राय और कवि हरि राम द्विवेदी को 'पुरबिया गौरव सम्मान' से सम्मानित किया गया। अतिथियों का अभिनंदन मंच के अध्यक्ष विनय शंकर राय मुन्ना ने किया इस अवसर पर विचार व्यक्त करने वालों में पुरबिया एकता मंच के राष्ट्रीय अध्यक्ष राम नगीना सिंह, श्री अनिल सिंह, सत्येन्द्र सिंह, विश्वनाथ कुँवर, आर.डी. राय, नीरज सिंह, दिलीप मिश्रा, मोहम्मद अकरम, राजन दूबे, दिल्ली के पार्षद तिलोतमा चौधरी, पटना के जिला पार्षद रविन्द्र रंजन, नीलम सिंह, अखिलेश सिंह, उमेश राजभर, कन्हैया राजभर, विजय पटेल, शिवकुमार सोनकर आदि मौजूद थे।